प्राकृत भारती पुष्प ६

जैनागम दिग्दर्शन

लेखक
डॉ मुनि नगराज डी लिट्

सम्पादक
उपाध्याय मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

प्रकाशक
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रकाशक
देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

□
प्रथमावृत्ति १,१००

□
मूल्य बीस रुपये (सजिल्द)
सोलह रुपये (पेपर बेक),

□
सन् १९८०, वि स २०३७, वीर नि स २५०६

□
प्राप्ति स्थान
१ राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान
यति श्यामलालजी का उपासरा, मोतीसिंह भोमियो का रास्ता
जयपुर – ३०२००३ (राजस्थान)

२ अर्हत् प्रकाशन
३६६ ३६८ तोदी कोनर, ३२ इजरा स्ट्रीट
कलकत्ता – ७०० ००१

□
मुद्रक
अजमेरा प्रिण्टिग वर्क्स
घी वालों का रास्ता,
जयपुर - ३०२००३ (राज०)

प्रकाशकीय

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान के छठे पुष्प के रूप में 'जैनागम दिग्दर्शन" पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है।

जैन दर्शन और साहित्य के विशिष्ट विद्वान् डा मुनिराज श्री नगराज जी महाराज से जनसाधारण को आगम-साहित्य की संक्षिप्त ज्ञान उपलब्ध कराने हेतु 'जैनागम दिग्दर्शन" पुस्तक लिखने के लिए प्राकृत भारती की तरफ से निवेदन किया गया था जिसे उन्होंने समयाभाव के उपरांत भी सहर्ष स्वीकार किया। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के प्रयास का फल है जिसके लिए संस्थान उनके प्रति बहुत ही आभारी है।

इस पुस्तक का सम्पादन शतावधानी उपाध्याय श्री महेन्द्र मुनि जी ने किया था, परन्तु पुस्तक प्रकाशन के पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया, अत उनके प्रति संस्थान की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित है।

जैन दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, भूतपूर्व निदेशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद ने संस्थान के निवेदन पर इस पुस्तक पर प्रास्ताविक लिखना स्वीकार किया, इसके लिए संस्थान उनके प्रति भी आभारी है।

पुस्तक के प्रकाशन में महोपाध्याय श्री विनयसागर संयुक्त सचिव ने जो अथक प्रयास किया तथा श्री पारस भंसाली जिन्होंने पुस्तक के मुख पृष्ठ के कला पक्ष को संवारा। के प्रति भी संस्थान कृतज्ञ है।

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव,
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

दिनांक १५-५-८०

प्राक्कथन

यह एक विश्रुत धारणा है कि जब मुहम्मद गजनी ने सोमनाथ के मंदिर को तोड़ा, वहा की अगाध सरक्षित सामग्री नष्ट-भ्रष्ट की और अतुल धन राशि लूटकर अपने देश को लौटा उस समय जैन समाज भी चौंका व चिंतित हुआ। दूरदर्शी आचार्यों व समस्त सघ के समक्ष प्रश्न था—आये दिन होने वाले ये हमले जैन सस्कृति व जैन साहित्य पर भी कभी दुर्दिन ला सकते हैं। इसी सन्दर्भ मे जैन सघ का निर्णय रहा सस्कृति की रक्षा का एकमात्र उपाय यही है कि जैन आगमो का व सम्बधित साहित्य का लिपिबद्ध रूप ऐसे किसी स्थान पर सुरक्षित किया जाये, जहाँ विधर्मी हमलो की कम से कम सम्भावना व शक्यता हो। हम न रहे हमारी सस्कृति न रहे हमारी आगम निधि बची रही तो समग्र जैन सस्कृति बची रह सकेगी, उसका पुनर्जागरण हो सकेगा। परिणामत जैसलमेर का भण्डार' बना जहा की निर्जल मरुस्थली मे हमलावरो का पहुँचना सहज शक्य नही था। प्रस्तुत घटना-प्रसग आगमा की उपयोगिता व गरिमा पर पर्याप्त प्रकाश डाल देता है।

आगम ग्रन्थ अध्यात्म व दर्शन से आप्लावित तो हैं ही साथ साथ वे चिरन्तन युगो की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक वस्तुस्थिति के बोध से भी भरे पूरे हैं। गवेषक विद्वानो के लिए उनकी व्यापक एव निरुपम उपयोगिता है। वे भारतीय इतिहास की अनेक दुभर रिक्तताओ को भरने मे सक्षम प्रमाणित हुए हैं तथा हो रहे हैं।

दिगम्बर-परम्परा

आगम ज्ञान के विषय में दिगम्बर परम्परा की धारणा बहुत कुछ भिन्न है। दिगम्बर मान्यता के अनुसार आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर, क्रमश विशाख, प्रोष्ठिल आदि 11 आचार्य 10 पूर्वधर, नक्षत्र जयपाल आदि 5 आचार्य एकादश अगधर, सुभद्र, यशोभद्र आदि 4 आचार्य आचारागधर हुए। तदनन्तर न तो पूर्व ज्ञान रहा,

न एकादश अग ज्ञान रहा। यह समय वीर-निर्वाण 683 तक का होता है। श्रुत-ग्रवस्थिति के विषय मे यह मौलिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य आगम' दिगम्बर परम्परा के आधार-भूत शास्त्र नही बनते। उस परम्परा मे जो आधारभूत शास्त्र हैं उनका विवरण सक्षेप मे यह है कि वीर निर्वाण 683 के पश्चात् पूर्व-ज्ञान व अग ज्ञान की आशिक रूप से धारणा करने वाले कुछ आचार्य हुए। उनमे से पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यो ने द्वितीय पूर्व अग्रायणीय के आशिक आधार पर 'षट्खण्डागम' की रचना की। आचार्य गुणधर ने पाचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के आशिक आधार पर कषाय पाहुड' की रचना की। आचार्य भूतबलि ने महाबध' का प्रणयन किया।

आचार्य वीरसेन ने आगे चलकर इन ग्रथो पर धवला और जयधवला टीकाए लिखी। उक्त ग्रन्थ व टीकाए दिगम्बर परम्परा मे आगमवत् मान्य हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार प्रवचनसार पचास्तिकायसार व नियमसार और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के गोम्मटसार, लब्धिसार व द्रव्यसग्रह आदि भी आगमवत् मान्य हैं।

आगम ज्ञान के अस्तित्व प्रश्न पर दोनो परम्पराओ मे भले ही मौलिक मतभेद रहा है, पर दोनो परम्पराओ के आधारभूत ग्रथो से जो फलित प्रसूत हुआ है, वह जैन दर्शन व जैन सस्कृति का द्विरूप या विरूप करने वाला नही। जैन दर्शन के तात्विक व दार्शनिक रूप को प्रस्तुत करने वाला तत्वार्थसूत्र ग्रन्थ व उसके रचयिता उमास्वाति (दिगम्बर मान्यता मे उमास्वामी) दोनो परम्पराओ मे समान रूप से मान्य हैं। दोनो पक्षो के लिए यह एक योजक कडी है। अन्य भी आधारभूत मान्यताए दोनो परम्पराओ की समान हैं। भेद मूलक तो स्त्री-मुक्ति, केवली आहार अचेलकता, भगवान् महावीर का पाणिग्रहण, काल द्रव्य का रूप आदि कुछ ही मान्यताए हैं। समग्र दर्शन को तोलने पर इनका वजन बहुत ही कम रह जाता है। निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता है, दोनो शास्त्रीय धाराओ का इतिवृत्त कुछ भी रहा हो, दोनो के प्रतिपादन साम्य ने किसी भी धारा को न्यून नहीं होने दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक मे केवल श्वेताम्बर शास्त्रीय धारा का ही विश्लेषण किया गया है। आगम अपनी प्राचीनता व मौलिकता की दृष्टि से गवेषक विद्वानो की निरुपम थाती है। 'जनागम दिग्दर्शन' पुस्तक उनके लिए कुंजी का कार्य करेगी, ऐसी आशा है। पुस्तक के प्रस्तुतीकरण मे राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान के सचिव देवेन्द्रराज मेहता का आवेदन ही एक मात्र निमित्त बना है। उनके कतिपय सुझाव भी इसमे क्रियान्वित किये गये हैं।

सम्पादन उपाध्याय मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने किया है। उनकी पनी निगाह से त्रुटियो के बच पाने की शक्यता बहुत कम ही रहती है। कार्य-व्यस्तता मे भी उन्होने इसका सम्पादन मनोयोग पूर्वक किया है।

२४ माघ, १९७८
जैन उपाश्रय, बड़ा मंदिर,
कलकत्ता

मुनि नगराज

प्रास्ताविक

'जैनागम दिग्दर्शन" पुस्तक मने पढी। जनागम के विषय मे परिचय देने वाले कई ग्रथ हैं किन्तु सक्षेप मे आगमो के विषय मे जानना हो तो यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा। लेखक डा० मुनि श्री नगराजजी ने इसमे श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य 45 आगमो का परिचय उनकी टीकाओ के उल्लेख के साथ करा दिया है। आगम के विषय मे सामान्य जिज्ञासा की पूर्ति यह ग्रन्थ अच्छी तरह से कर देगा, ऐसा मेरा विश्वास है। अतएव लेखक को धन्यवाद देना और वाचको की ओर से आभार मानना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है।

लेखक ने जैनागमो की उत्पत्ति और सकलन की चर्चा सर्व प्रथम की है और तदनन्तर कौन शास्त्र सम्यक् और कौन मिथ्या इस ओर जो अनेकान्त - दृष्टि से वाचक का ध्यान आकर्षित किया है, वह ध्यान देने योग्य बात है। नन्दीसूत्र मे यह विचारणा हुई है किन्तु इस ओर हमारा ध्यान विशेष जाता नही। अतएव इस विषय की चर्चा जो लेखक ने प्रारम्भ मे की है उसके लिये पाठक उनका ऋणी रहेगा। प्राय आगम का परिचय देने वाले इस बात का सम्यक प्रकार से करते नही। अतएव लेखक ने इस ओर पाठक का ध्यान दिलाया है वह उनकी उदार दृष्टि का परिणाम है।

जैनागमो की रचना किसने और कब की ? यह एक समस्या है। और जब तक एक एक आगम का विशिष्ट अध्ययन नही होगा तब तक यह समस्या बनी रहेगी। विदेशी विद्वानो ने इस समस्या का समाधान ढूढने का प्रयत्न किया है और उसमे सफल भी हुए है। उनके विचार मे आचाराग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), सूत्रकृताग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) उत्तराध्ययन और दशवकालिक (शय्यभवकृत) ये चार आगम सभी आगमो मे प्राचीन हैं। सचमुच देखा जाय तो जनो के ये चार वेद हैं। आगमों को वेद की सज्ञा भी दी गई है, वह इसलिए कि आर्यों मे वेदो का सर्वाधिक महत्व था। अतएव ज्ञान विज्ञान की

सामग्री का साधन यदि वदिको के लिए वेद हैं तो जना के लिए आगम वदकोटि मे गिने जायें तो आश्चय नही होना चाहिए।

इन चारो आगमो के बाद प्राचीनता की दृष्टि से छेदग्रन्थो का स्थान दिया गया है। वे छ हैं। इनमे स दशाश्रुतस्कन्ध कल्प, व्यवहार और निशीथ इन चारो के कर्त्तारूप से चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहु प्रथम माने गय हैं।

छेद के बाद स्थान आता है आचाराग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) और सूत्रकृताग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) का। अगो मे जो कथाग्रन्थ हैं उनका स्थान इन्ही के बाद का हो सकता है। किन्तु अगो मे प्रश्न-व्याकरण अपने मौलिक रूप मे विद्यमान न होकर नये रूप मे ही हमार समक्ष है।

भगवती ग्रन्थ तो एक ही माना जाता है किन्तु उसमे कई प्राचीन नये स्तर देखे जा सकते हैं। उसमे प्रज्ञापना आदि उपागो का साक्ष्य दिया गया है जो बताता है कि उपागचर्चित विषयो को प्रामाण्य अर्पित करने के लिए ही उन विषयो की चर्चा भगवती मे की गई है।

सभी अगो के विषय मे परम्परा तो यह है कि उनकी रचना गणधरो ने की थी। किन्तु आज विद्यमान उन अगो को देखकर यह नही कहा जा सकता कि उनकी रचना एक काल मे ही हुई होगी? भगवान् ने जो उपदेश दिया उसे ही तत्काल गणधरो न इन अगो मे सूत्र बद्ध कर दिया होगा, यदि हम इस तथ्य की ओर ध्यान दें तो आगम गत भूगोल-खगोल प्रत्यक्ष विरुद्ध है। तो, सवज्ञ भगवान् ने ऐसी बात क्यो कही?—इस समस्या का समाधान मिल जाता है कि य बातें भगवान् के उपदेश की है ही नही। उनका उपदेश तो आत्मा के कमबन्ध और मोक्ष के कारणो के विषय मे ही था। भूगोल खगोल की चर्चा तो तत्तत्काल मे आचार्यों ने भारत मे जसी जो विचारणा प्रचलित थी उनका प्राय वसे ही उल्लेख कर दिया है। इस चर्चा का सम्बन्ध भगवान् के मौलिक उपदेश के साथ नही है। यह तो एक घम,

जब सम्प्रदाय का रूप ले लेता है तब सब विषयो की व्यवस्था अपनी-अपनी दृष्टि से करनी अनिवार्य हो जाती है, इसी बात का सकेत है।

आगमो मे उपाग आदि ग्रन्थ जो ग्रन्थ हैं उन्हे तो परम्परा मे भी स्थविर-कृत ही माना जाता है। अतएव ये सभी सर्वज्ञ प्रणीत हैं यह मानना जरूरी नही है। ऐसा मानने से ही आगमो मे जहा भी परस्पर विरोध दिखाई देता है उनका भी समाधान आसान हो जाता है। एककर्तृक मे विसवाद प्राय नही होता, किन्तु अनेक कर्तृक अनेक कालिक ग्रन्थो मे विसम्वाद सम्भव हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। अतएव आगमो का अभ्यास करके यह निर्णय करना जरूरी है कि कौनसी मौलिक बात भगवान् ने कही है और कौनसी बात बाद में आचार्यों ने जोडी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आगमो का परिचय-मात्र है और वह सामान्य जिज्ञासु के लिए ठीक ही है। किन्तु डा० मुनि श्री नगराजजी से हमारी अपेक्षा तो यह है कि वे अपना सामर्थ्य इस ओर लगाकर यह बतावें कि आगम मे कौन कौन से ग्रन्थ का क्या-क्या काल हो सकता है और विचारों तथा मन्तव्यो का नवीनीकरण आगमो मे किस प्रकार हुआ है ? अगली पुस्तक ऐसे विशिष्ट अध्ययन के साथ वे हमे दें ऐसी विनती करना मै अपना कर्त्तव्य समझता हू। जब आगम-परिचय देना उन्होने प्रारम्भ ही किया है तब उनके सामर्थ्य को देखकर हमारी ऐसी अपेक्षा हो, यह स्वाभाविक है। यह कार्य उनके लिए असम्भव नही है जबकि वे आगम और त्रिपिटक के निष्णातक रूप मे हमारे आदर के पात्र हैं।

पुस्तक की छपाई अच्छी है किन्तु प्राकृत उद्धरण कुछ अशुद्ध छपे हैं उन्हें दूसरे सस्करण मे शुद्ध करके छापा जाना जरूरी है। इस ग्रन्थ मे कुछ स्खलन विचारणीय हैं, जैसे—पृ० 33 मे नन्दीसूत्र को देवर्धि की रचना कहा है किन्तु पृ० 151 मे उसे देव वाचक की रचना मानी है। पृ० 49, सूत्रकृताग का अन्य नाम सुत्राकृत न होकर सूचाकृत है। पृ० 19, प० 14 मे 'उपयोग' शब्द के स्थान पर वचोगतवाङ्मय होना चाहिए। प्रारम्भ मे अगो का जो परिचय दिया है वह अति

सक्षिप्त है जबकि अग-वाह्यों के परिचय मे अधिक सामग्री दी गई है इससे पुस्तक मे परिचय की एक रूपता नही रही। लेखक का ध्यान इन बातो की ओर दिलाने से ग्र थ का मूल्य कम नही होता केवल दूसरे सस्करण मे इस पर लेखक विचार कर सके इसके लिए ही यहाँ उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया है। यथार्थ बात तो यह है कि लेखक ने इस पुस्तक को लिखकर सामान्य जिज्ञासु को आगमो के विषय मे अच्छा परिचय दिया है और उसके लिए लेखक का वाचक-वर्ग आभारी रहेगा ही।

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान ने अपने अस्तित्व के थोडे से ही समय मे विद्या वितरण के क्षेत्र मे अपना स्थान उचित रूप म जमाया है और उसे उत्तरोत्तर सफलता मिले यह शुभेच्छा है। राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान की प्रगति हो रही है उसमे उसके कमठ उत्साही सचिव श्री देवेन्द्रराज जी मेहता और उनके सहकारी महोपाध्याय प० श्री विनयसागर जी का उत्साह मुख्य कारण है, विद्यारसिक विद्वद्वर्ग उनके आभारी रहेगे।

अहमदाबाद — दलसुखभाई मालवणिया

दिनाक 24 4 80

विषयानुक्रम

आगम विचार

धर्म-देशना

तीथकर अर्द्ध मागधी भाषा मे धम-देशना देते हैं। उनका अपना वशिष्ट्य होता है, विविध भाषा भाषी श्रोतृगण अपनी अपनी भाषा मे उसे समझ लेते हैं। दूसरे शब्दो मे वे भाषात्मक पुदगल श्रोताओ की अपनी-अपनी भाषाओ मे परिणत हो जाते है। जैन-वाङ मय मे अनेक स्थलो पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते है। समवायाग सूत्र मे जहा तीर्थकर के चौतीस अतिशयो का वणन है, वहा उनके भाषातिशय के सम्बन्ध मे कहा गया है "तीथकर अर्द्ध मागधी भाषा मे धम का आख्यान करते हैं। उनके द्वारा भाष्यमाण अर्द्ध-मागधी भाषा आय, अनाय, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी तथा सरीसृप प्रभृति जीवो के हित, कल्याण और सुख के लिए उनकी अपनी अपनी भाषाओ मे परिणत हो जाती है।"[1]

प्रज्ञापना सूत्र मे आय की बहुमुखी व्याख्या के सन्दभ मे सूत्र-कार ने अनेक प्रकार के भाषा-आय का वणन करते हुए कहा है "भाषा आय अर्द्ध मागधी भाषा बोलते हैं और ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग करते हैं।"[2]

---

१ भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य ण अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाण दुप्पय-चउप्पय-मिय पसु सरीसिवाण अप्पप्पणो हिय सिव-सुहदाय भासत्ताए परिणमइ।
— समवायाग सूत्र, ३४

२ कि त भासारिया? भासारिया अणेगविहा पण्णत्ता। त जहा—जेण अद्धमागहीए भासाए भासइ जत्थ वियण बभी लिवी पवत्तई।
— प्रज्ञापना, पद १ ३६

औपपातिक सूत्र का प्रसग है "तब भगवान् महावीर अनेक विध परिषद्-परिवृत (श्रे णिक) बिम्बिसार के पुत्र कूणिक (अजातशत्रु) के समक्ष शरद ऋतु के नव स्तनित—नूतन मेघ के गर्जन के समान मधुर तथा गम्भीर, क्रौंच पक्षी के घोष के समान मुखर, दुंदुभि की ध्वनि की तरह हृद्य वाणी से, जो हृदय मे विस्तार पाती हुई कण्ठ मे वर्तु लित होती हुई तथा मस्तक मे आकीर्ण होती हुई व्यक्त, पृथक्-पृथक स्पष्ट अक्षरो मे उच्चारित, मम्मणा - अव्यक्त वचनता-रहित सर्वाक्षर-समन्वययुक्त, पुण्यानुरक्त, सर्वभाषानुगामिनी, योजनपर्यन्त श्रूयमाण अर्द्धमागधी भाषा मे बोलते हुए धर्म का परिकथन करते हैं। वह अर्द्धमागधी भाषा उन आर्यों अनार्यों की अपनी-अपनी भाषाओ मे परिणत हो जाती है।"[१]

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के मगलाचरण मे जनी वाक अर्द्ध मागधी भाषा के रूप मे व्याख्या करते हुए 'सर्वभाषापरिणताम्' पद से प्रशस्तता प्रकट की है। अलकारतिलक के रचयिता वाग्भट ने भी उसी प्रकार भवनाश्रित अर्द्ध मागधी भाषा की स्तवना करते हुए भाव व्यक्त किये हैं "हम उस अर्द्ध मागधी भाषा का आदरपूर्वक ध्यान, स्तवन करते हैं, जो सब की है सर्वज्ञो द्वारा व्यवहृत है, समग्र भाषाओ मे परिणत होने वाली है, सार्वजनीन है, सब भाषाओ का स्रोत है।"[२]

भाषा प्रयोग की अनेक विधाएँ होती हैं। जहा श्रद्धा, प्रशस्ति

---

१ समणे भगवं महावीरे कोणियस्स रण्णो भभासार पुत्तस्स सारदनवत्थणियं महुरगंभीर कोंचणिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरेवित्थडाए कंठे वट्टियाए सिरे समाइण्णाए अगिलाए अमम्मणाए सव्वक्खरसण्णिवाईयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासंति अरिहा धम्मं परिकहेंति तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्मं माइक्खंति सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमति।

— औपपातिक सूत्र पृ० ११७, ११८

२ सर्वार्धमागधी सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सार्वीया सर्वतो वाच सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे॥

— तिलक १, १

तथा समादर का भाव अधिक होता है, वहा भाषा अर्थवाद प्रधान हो जाती है। इसे दूषणीय नही कहा जाता। परतु, जहा भाषा का प्रयोग जिस विधा मे है, उसे यथावत् रूप मे समझ लिया जाये तो कठिनाई नही होती। इसी दृष्टिकोण से ये प्रसग ज्ञेय और व्याख्येय हैं। भगवान् श्री महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे। इस समय उपलब्ध अर्द्ध मागधी आगम वाङ्मय उन्ही की देशना पर आधारित है।

अत्थागम सुत्तागम

आगम दो प्रकार के हैं—१ अत्थागम (अर्थागम) और २ सुत्तागम (सूत्रागम)। तीर्थंकर प्रकीर्ण रूप मे जो उपदेश करते हैं, वह अर्थागम है। अर्थात् विभिन्न अर्थों—विषय-वस्तुओ पर जब जब प्रसग आते है, तीर्थंकर प्ररूपणा करते रहते हैं। उनके प्रमुख शिष्य अर्थात्मक दृष्ट्या किये गये उपदेशो का सूत्ररूप मे सकलन या सग्रथन करते रहते हैं। आचार्य भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति मे इसी आशय को अग्रांकित शब्दावली मे कहा गया है "अर्हत् अर्थ का भाषण या व्याख्यान करते है। धर्म शासन के हित के लिए गणधर उनके द्वारा व्याख्यात अर्थ का सूत्र रूप मे ग्रथन करते है। इस प्रकार सूत्र प्रवृत्त होता है।"

१ इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा ६ मण्डित, ७ मौर्यपुत्र ८ अकम्पित, ९ अचल-भ्राता, १० मेतार्य, ११ प्रभास, भगवान् महावीर के ये ग्यारह गणधर थे। उनका श्रमण-सघ नौ गणो मे विभक्त था जिनके नाम इस प्रकार है १ गोदास गण, २ उत्तरबलियस्सय गण ३ उद्देह गण, ४ चारण गण, ५ ऊर्ध्ववातिक गण, ६ विश्ववादी गण, ७ कामर्धिक गण, ८ माणव गण तथा ९ कोटिक गण।[1]

---

१ समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा होत्था। त जहा—गोदास गणे, उत्तरबलियस्सयगणे उद्देहगणे, चारणगणे,उद्दवाइयगणे, विस्सवाइगणे कामिड्ढियगणे माणवगणे कोडियगणे।

— स्थानाग, ९ २६

गणधर आगम-वाङ्मय का प्रसिद्ध शब्द है। आगमो मे मुख्यतया यह दो अर्थों मे व्यवहृत हुआ है। तीर्थंकरो के प्रधान शिष्य गणधर कहे जाते हैं, जो तीर्थंकरो द्वारा अर्थागम के रूप मे उपदिष्ट-ज्ञान का द्वादश अगों के रूप मे सकलन करते ह। प्रत्येक गणधर के नियत्रण मे एक गण होता है, जिसके सयम जीवितव्य के निर्वाह का गणधर पूरा ध्यान रखते हैं। गणधर का उसमे भी अधिक आवश्यक काय है अपने अधीनस्थ गण को आगम-वाचना देना।

तीर्थंकर अर्थ मे जो आगमोपदेश करते हैं, उन्हे गणधर शब्द-बद्ध करते हैं। अर्थ की दृष्टि से समस्त आगम वाङ्मय एक होता है, परन्तु, भिन्न भिन्न गणधरो के द्वारा सग्रथित होने के कारण वह शाब्दिक दृष्टि से सवथा एक हा ऐसा नही होता। शाब्दिक अन्तर स्वाभाविक है। अत भिन्न भिन्न गणधरो की वाचनाएँ शाब्दिक दृष्टि से सदृश नही होती। तत्वत उनमें ऐक्य होता है।

ग्यारह गणधर नौ गण

भगवान् महावीर के सघ मे गणो और गणधरो की सख्या मे दो का अन्तर था। उसका कारण यह है कि पहले से सातवें तक के गणधर एक-एक गण की व्यवस्था देखते थे, पृथक्-पृथक् आगम-वाचना देते थे, परन्तु, आगे चार गणधरो मे दो दो का एक-एक गण था। इसका तात्पय यह है कि आठवें और नौवें गण मे श्रमण-सख्या कम थी, इसलिए दो-दो गणधरो पर सम्मिलित रूप से एक-एक गण का दायित्व था। तदनुसार अकम्पित और अचलभ्राता के पास आठवें गण का उत्तरदायित्व था तथा मेतार्य और प्रभास के पास नौवें गण का।

कल्पसूत्र मे कहा गया है "भगवान् महावीर के सभी ग्यारहो गणधर द्वादशाग-वेत्ता, चतुर्दश-पूर्वी तथा समस्त गणि पिटक के धारक थे। राजगृह नगर मे मासिक अनशन पूवक वे कालगत हुए, सवदु ख प्रहीण बने अर्थात् मुक्त हुए। स्थविर इन्द्रभूति (गौतम) तथा स्थविर आर्य सुधर्मा, ये दोनो ही भगवान् महावीर के सिद्धिगत

होने के पश्चात् मुक्त हुए।"[1] ज्यों-ज्यों गणधर सिद्धि-प्राप्त होते गये उनके गण सुधर्मा के गण में अन्तर्भावित होते गये।

श्रुत-संकलन

तीर्थंकर सर्वज्ञत्व प्राप्त करने के अनन्तर उपदेश करते हैं। तब उनका ज्ञान सर्वथा स्वाश्रित या आत्म-साक्षात्कृत होता है, जिसे दर्शन की भाषा में पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है। सर्वज्ञ होने के बाद भगवान् महावीर ने समस्त जगत् के समग्र प्राणियों के कल्याण तथा श्रेयस् के लिए धर्म देशना दी। उनकी धर्म-देशनाओं के सन्दर्भ में बड़ा सुन्दर क्रम मिलता है। उनके निकटतम सुविनीत अन्तेवासी गौतम, यद्यपि स्वयं भी बहुत बड़े ज्ञानी थे, परन्तु, लोक-कल्याण की भावना से भगवान् महावीर से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते थे। भगवान् उनका उत्तर देते थे। श्रुत का वह प्रवहमान स्रोत एक विपुल ज्ञान राशि के रूप में परिणत हो गया।

भगवान् महावीर द्वारा अर्द्ध मागधी में उपदिष्ट अर्थागम का आर्य सुधर्मा ने सूत्रागम के रूप में जो संग्रथन किया, अद्यावधि ही सही द्वादशांगी[2] के रूप में वही प्राप्त है। श्रुत-परम्परा के (महावीर के उत्तरवर्ती) स्रोत का आर्य सुधर्मा से जुड़ने का हेतु यह है कि वे ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी हुए, इसलिये आगे की सारी परम्परा आर्य सुधर्मा की (धर्म –) अपत्य-परम्परा या (धर्म –) वंश-परम्परा कही जाती है। कल्पसूत्र में लिखा है "जो आज श्रमण-निर्ग्रन्थ विद्यमान हैं, वे सभी अनगार आर्य सुधर्मा की अपत्य-परम्परा के हैं, क्योंकि और सभी गणधर निरपत्य रूप में निर्वाण को प्राप्त हुए।"[3]

---

१ सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोद्दसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं कालगया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा। थेरे इंदभूइ थेरे अज्ज सुहम्मे सिद्धि गए महावीरे पच्छा दोन्नि वि परिनिव्वुया॥ २०३॥

२ बारहवां अंग दृष्टिवाद अभी लुप्त है।

३ जे इमे अज्जत्ताते समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्ज सुहम्मस्स अणगारस्स आहावच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वोच्छिन्ना।

श्रुत कण्ठाग्र अपरिवर्त्य

वेदों को श्रुति कहे जाने का कारण सम्भवत यही है कि उन्हें सुनकर, गुरु मुख से आयत्त कर स्मरण रखने की परम्परा रही है। जैन आगम वाङ्मय को भी श्रुत कहा जाता है। उसका भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि उसे सुनकर, आचार्य या उपाध्याय से अधिगत कर याद रखे जाने का प्रचलन था। सुन कर जो स्मरण रखा जाए, उसमें सुनी हुई शब्दावली की यथावत्ता स्थिर रह सके यह कठिन प्रतीत होता है। पुराकालीन मनीषियों के ध्यान से यह तथ्य बाहर नहीं था, अत वे आरम्भ से ही इस ओर यथेष्ट जागरूकता और सावधानी बरतते रहे। वैदिक विद्वानों ने सहिता-पाठ पद-पाठ क्रम-पाठ, जटा-पाठ तथा घन-पाठ के रूप में वेद मन्त्रों के पठन या उच्चारण का एक वैज्ञानिक अभ्यास-क्रम निर्धारित किया था। इस वैज्ञानिक पाठ-क्रम के कारण ही वेदों का शाब्दिक कलेवर आज भी अक्षुण्ण विद्यमान है।

जैन आगमज्ञों ने इसे भलीभाँति अनुभव किया। उन्होंने भी आगमों के पाठ या उच्चारण के सम्बन्ध में कुछ ऐसी मर्यादाएँ नियमन या परम्पराएँ बाँधी, जिनसे पाठ का शुद्ध स्वरूप अपरिवर्त्य रह सके। अनुयोग द्वार सूत्र में आगमत द्रव्यावश्यक के प्रसग में सूचित किया गया है कि आगम पाठ की क्या क्या विशेषताएँ हैं ? वे इस प्रकार हैं

१ शिक्षित — साधारणतया पाठ सीख लेना उसका सामान्यत उच्चारण जान लेना।

२ स्थित — अधीत पाठ को मस्तिष्क में स्थिर करना।

३ जित — क्रमानुरूप आगम वाणी का पठन करना। यह तभी

---

१ आगमओ दव्वावस्सय — जस्स ण आवस्सएति पद — सिक्खित, ठित जित, मित परिजित, नामसम, घोससम अहीणक्खर, अणक्खर, अव्वाइद्ध क्खर अक्खलिय अमिलिय, अवच्चामेलिय, पडिपुण्ण पडिपुण्णघोस कटठोटठविप्पमुक्क गुरुवायणोवगय।

— अनुयोगद्वार सूत्र ११

सधता है, जब पाठ निज-वशगत—अधिकृत या स्वायत्त हो जाता है।

४ मित — मित का अर्थ मान, परिमाण या माप होता है। पाठ के साथ मित विशेषण का आशय पाठगत अक्षर आदि की मर्यादा, नियम, सयोजन आदि है।

५ परिजित— अनुक्रमतया पाठ करना सरल है। यदि उसी पाठ का व्यतिक्रम या व्युत्क्रम से उच्चारण किया जाये तो बड़ी कठिनता होती है। यह तभी सम्भव होता है, जब पाठ परिजित अर्थात् बहुत अच्छी तरह अधिकृत हो। अध्येता को व्यतिक्रम या व्युत्क्रम से पाठ करने का भी अभ्यास हो।

६ नामसम— हर किसी को अपना नाम प्रतिक्षण किसी भी प्रकार की स्थिति मे सम्यक् स्मरण रहता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को आत्मसात् हो जाता है। अपने नाम की तरह आगम-पाठ का आत्मसात् हो जाना। ऐसा होने पर अध्येता किसी भी समय पाठ का यथावत् सहज रूप मे उच्चारण कर सकता है।

७ घोषसम— घोष का अर्थ ध्वनि है। पाठ शुद्ध घोष या ध्वनिपूर्वक उच्चरित किया जाना चाहिए। व्याख्याकारो ने घोष का आशय उदात्त[1], अनुदात्त[2] तथा स्वरित[3] अभिहित किया है। जहा जिस प्रकार का स्वर उच्चरित होना अपेक्षित हो, वहा वैसा ही उच्चरित होना। वेद मन्त्रो[4] के उच्चारण मे बहुत सावधानी रखी जाती थी। घोषसम के अभिप्राय मे इतना और

---

१ उच्चैरुदात्त ।
२ नीचैरनुदात्त ।
३ समवृत्या स्वरित ।
} वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, १, २ २६–३१,

४ मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
सा वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रु स्वरतोपराधात् ॥

— पाणिनीय शिक्षा, ५२

जोड़ा जाना भी सगत प्रतीत होता है कि जिन वर्णों के जो जो उच्चारण स्थान हो, उनका उन-उन स्थानो से यथावत् उच्चारण किया जाए। व्याकरण मे उच्चारण-सम्बन्धी जिस उपक्रम को प्रयत्न[1] कहा जाता है, घोषसम मे उसका भी समावेश होना है।

८ अहीनाक्षर—उच्चायमाण पाठ मे किसी भी वर्ण को हीन अर्थात् गायब या अस्पष्ट न करना। पाठ स्पष्ट होना चाहिए।

९ अत्यक्षर—उच्चायमाण पाठ मे जितने अक्षर हो ठीक वे ही उच्चरित हो, कोई अतिरिक्त या अधिक न मिल जाए।

---

१ वर्णों के उच्चारण म कुछ चेष्टा करनी पडती है उसे यत्न' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है। जो यत्न वर्ण के मुख से बाहर आने स पूर्व अन्तराल म होता है उसको आभ्यन्तर कहते हैं। बिना इसके बाह्य यत्न निष्फल है। यही इसकी प्रकृष्टता है, अतएव इसे प्रयत्न कहा जाता है। 'प्रकृष्टो यत्न प्रयत्न' यह अर्थ सगत भी इसीलिये है। इसका अनुभव उच्चारण करने वाला ही कर सकता है क्योंकि उसी के मुख कि अन्तराल में यह होता है। दूसरा यत्न मुख से वर्ण निकलते समय होता है अतएव यह बाह्य कहा जाता है। इसका अनुभव सुनने वाला भी कर सकता है।

यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्य पचधा—स्पृष्ट ईषत्स्पृष्ट ईषद्विवृत विवृत सवृतभेदात्। तत्र स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्ट मन्त स्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृत स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे सवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।

बाह्यस्त्वेकादशधा—विवार सवार श्वासो नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्त स्वरितश्चेति।

खरो विवारा श्वासा अघोषाश्च।
हश सवारा नादा घोषाश्च।
वर्गाणा प्रथमतृतीयपचमा यणश्चाल्पप्राणा ।
वर्गाणा द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणा ।

—लघु सिद्धान्त कौमुदी, सज्ञाप्रकरणम्, पृ० १८–२०

१० अव्याविद्धाक्षर—अ+वि+आ+विद्ध के योग से अव्याविद्ध शब्द बना है। विद्ध का अर्थ बिंधा हुआ है और उसके पहले आ उपसर्ग लग जाने से उसका अर्थ सब ओर से या भलीभांति बिंधा हुआ हो जाता है। 'आ' मे पूर्व लगा 'वि' उपसर्ग विध जाने के अर्थ मे और विशेषता ला देता है। अक्षर के व्याविद्ध होने का अर्थ है उसका अपहत होना, पीडित होना। अपहनन या पीडन का आशय अक्षरो के विपरीत या उल्टे पठन से है। वैसा नही होना चाहिए।

११ अस्खलित—पाठ का यथाप्रवाह उच्चारण होना चाहिए। प्रवाह मे एक लय (Rhythm) होती है जिससे पाठ द्वारा व्यज्यमान आशय सुष्ठुतया अवस्थित रहता है, अतएव पाठ मे स्खलन नही होना चाहिए। अस्खलित रूप मे किये जाने वाले पाठ की अर्थ-ज्ञापकता वैशद्य लिये रहती है।

१२ अमिलित—अजागरूकता या असावधानी से किये जाने वाले पाठ मे यह आशकित रहता है कि दूसरे अक्षर कदाचित् पाठ के अक्षरो के साथ मिल जायें। वसा होने से पाठोच्चारण की शुद्धता व्याहत हो जाती है। वैसा नही होना चाहिये।

१३ अव्यत्याम्रेडित—अ+वि+अति+आम्रेडित के योग से यह शब्द बना है। आम्रेडित का अर्थ शब्द या ध्वनि की आवृत्ति[1] है। पाइअ सद्दमहण्णवो मे 'वच्चामेलिय' और 'विच्चामेलिय' दोनो रूप दिये है। दोनो का एक ही अर्थ है। वहाँ 'भिन्न भिन्न अशो से मिश्रित अस्थान मे ही छिन्न होकर फिर ग्रथित तथा तोड

---

१ सस्कृत—(क) हिन्दी कोष, आप्टे पृ० ११५

(ख) Reduplication Sanskrit-English Dictionary

— Sir Monier M Williams, p 147

कर साधा हुआ' अर्थ[1] किया गया है। सूत्र-व्याख्याताओं ने इसका अर्थ अन्य सूत्रों अथवा शास्त्रों के मिलते-जुलते या समानार्थक पाठ को चालू या क्रियमाण—उच्चार्यमाण पाठ से मिला देना किया है, जो कोशकारों द्वारा की गयी व्याख्या से मिलता हुआ है। शास्त्र पाठ या सूत्रोच्चारण में आम्रेडन अत्यधिक आम्रेडन—व्यत्याम्रेडन नहीं होना चाहिए।

१४ प्रतिपूर्ण—शीघ्रता या अतिशीघ्रता से अस्त-व्यस्तता आती है, जिससे उच्चारणीय पाठ का अंश छूट भी सकता है। पाठ का परिपूर्ण रूप से—समग्रतया, उसके बिना किसी अंश को छोड़े उच्चारण किया जाना चाहिए।

१५ प्रतिपूर्णघोष—पाठोच्चारण में जहाँ लय के अनुरूप बोलना आवश्यक है, वहाँ ध्वनि का परिपूर्ण या स्पष्ट उच्चारण भी उतना ही अपेक्षित है। उच्चार्यमाण पाठ का उच्चारण इतने मन्द स्वर से न हो कि उसके सुनाई देने में भी कठिनाई हो। प्रतिपूर्ण घोष समीचीन, संगत वाञ्छित स्वर से उच्चारण करने का सूचक है। जैसे, मन्द स्वर से उच्चारण करना वर्ज्य है, उसी प्रकार अति तीव्र स्वर से उच्चारण करना भी दूषणीय है।

१६ कण्ठोष्ठविप्रमुक्त—कण्ठ+ओष्ठ+विप्र+मुक्त के योग से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। मुक्त का अर्थ छूटा हुआ है। जहाँ उच्चारण में कम सावधानी बरती जाती है, वहाँ उच्चार्यमाण वर्ण कुछ कण्ठ में, कुछ होठों में बहुधा अटक जाते हैं। जैसा अपेक्षित हो, वैसा स्पष्ट और सुबोध्य उच्चारण नहीं हो पाता।

पाठोच्चारण के सम्बन्ध में जो सूचन किया गया है वह एक ओर उच्चारण के परिष्कृत रूप और प्रवाह की यथावत्ता बनाये रखने के यत्न का द्योतक है, वहाँ दूसरी ओर उच्चारण, पठन, अभ्यास-

---

[1] पाइअसद्दमहण्णवो पृ० ७७६

पूर्वक अधिगत या स्वायत्त किये गये शास्त्रो को यथावत् स्मृति मे टिकाये रखने का भी सूचक है। इन सूचनाओ मे अनुक्रम, व्यतिक्रम तथा व्युत्क्रम से पाठ करना, पाठ मे किसी वर्ण को लुप्त न करना, अधिक या अतिरिक्त अक्षर न जोडना, पाठगत अक्षरो को परस्पर न मिलाना या किन्ही अन्य अक्षरो को पाठ के अक्षरो के साथ न मिलाना आदि के रूप मे जो तथ्य उपस्थित किये गये हैं वे वस्तुत बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसके लिये सम्भवत यही भावना रही हुई प्रतीत होती है कि श्रमण-परम्परा से उत्तरोत्तर गतिशील द्वादशागमय आगम वाङ्मय का स्रोत कभी परिवर्तित, विचलित तथा विकृत न होने पाये।

श्रुत का उद्भव

सर्वज्ञ ज्ञान की प्ररूपणा या अभिव्यजना क्यो करते हैं, वह आगम रूप मे किस प्रकार परिणत होता है, इसका विशेषावश्यक भाष्य मे बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। वहा कहा गया है "तप, नियम तथा ज्ञान रूपी वृक्ष पर आरूढ अमित—अनन्त ज्ञान सम्पन्न केवली-ज्ञानी भव्यजनो को उद्बोधित करने के हेतु ज्ञान-पुष्पो की वृष्टि करते हैं। गणधर उसे बुद्धिरूपी पट मे ग्रहण कर उसका प्रवचन के निमित्त ग्रथन करते हैं।"[1]

वृक्ष के दृष्टान्त का विशदीकरण करते हुये भाष्यकार लिखते हैं "जैसे, विपुल वन-खण्ड के मध्य एक रम्य, उन्नत तथा प्रलम्ब शाखान्वित कल्पवृक्ष है। एक साहसिक व्यक्ति उस पर आरूढ हो जाता है। वह वहा अनेक प्रकार के सुरभित पुष्पो को ग्रहण कर लेता है। भूमि पर ऐसे पुरुष हैं जो पुष्प लेने के इच्छुक हैं और तदर्थ उन्होने अपने वस्त्र फैला रखे है। वह व्यक्ति उन फूलो को फैलाये हुए वस्त्रो पर प्रक्षिप्त कर देता है। वे पुरुष अन्य लोगो पर अनुकम्पा

---

१ तव नियम-नाणरुक्ख आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठि भवियजणविबोहणट्ठाए ॥
[illegible] बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउ निरवसेस।
तित्थयरभासियाइ गथति तओ पवयणट्ठा ॥
— विशेषावश्यक भाष्य १०९४ ९५

करने के निमित्त उन फूलों को गूंथते हैं। इसी तरह यह जगत् एक वनखण्ड है। वहां तप, नियम और ज्ञानमय कल्प वृक्ष है। चौंतीस अतिशय युक्त सर्वज्ञ उस पर आरूढ़ हैं। वे केवली परिपूर्ण ज्ञान रूपी पुष्पों को छद्मस्थता रूप भूमि पर अवस्थित ज्ञान रूपी पुष्प के अर्थी-इच्छुक गणधरों के निर्मल बुद्धिरूपी पट पर प्रक्षिप्त करते हैं।"[1]

भाष्यकार ने स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करते हुए इसका और विश्लेषण किया है, जो पठनीय है "सर्वज्ञ भगवान् कृतार्थ हैं। कुछ करना उनके लिए शेष नहीं है। फिर वे धर्म-प्ररूपणा क्यों करते हैं? सर्वज्ञ सब उपाय और विधि-वेत्ता हैं। वे भव्यजनों को उपदेश देने के लिये ही ऐसा करते हैं अभव्यों को क्या नहीं उद्बोधित करते?"

समाधान प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार कहते हैं 'तीर्थंकर एकान्त रूप में कृतार्थ नहीं हैं, क्योंकि उनके जिन नाम-कर्म का उदय है। वह कर्म वन्ध्य या निष्फल नहीं है, अतः उसे क्षीण करने के हेतु यही उपाय है। अथवा कृतार्थ होते हुए भी जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है, वैसे ही दूसरों से उपकृत न होकर भी परोपकार परायणता

१ रुक्खाइरुवपनिरूवणत्थमिह दव्वरुक्खदिट्ठंतो।
जह कोइ विउलवणसंडमज्झयारट्ठिय रम्म ॥
तुंग विउलक्खंध साहसमो कप्परुक्खमारूढो।
पज्जत्तगहियबहुविहसुरभिकुसुमोऽणुकंपाए ॥
कुसुमत्थियभूमिविट्ठिय पुरिसजणाणियपडेसु पक्खिवइ।
गंथति ते घत्तु सेसजणाणुग्गहट्ठाए।
लोगवणसंडमज्झे चोत्तीसाइसयसंपदोवेओ।
तव नियम-नाणमइय स कप्परुक्ख समारूढो ॥
मा होज्ज नाणगहणम्मि संसओ तेण केवलिग्गहणं।
सो वि चउहा तओ य सव्वण्णू अमियनाणि त्ति ॥
पज्जत्तनाणकुसुमो ताइ छउमत्थभूमिसंयेसु।
नाणकुसुमत्थिगणहरसियबुद्धिपडेसु पक्खिवइ ॥

—विशेषावश्यक भाष्य : १०९६ ११०१

के कारण दूसरो का परमहित करना उनका स्वभाव है। कमल सूय से बोध पाते हैं—विकसित होते है, तो क्या सूय का उनके प्रति राग है ? सूय की किरणो का प्रभाव एक समान है, पर, कमल उसमे विकसित होते हैं कुमुद नही होते तो क्या सूर्य का उनके प्रति द्वेष है ? सूय की किरणो का प्रभाव एक समान है, पर, कमल उससे जो विकसित होते हैं और कुमुद नही होते, यह सूर्य का, कमलो का कुमुदो का अपना अपना स्वभाव है। उगा हुआ भी प्रकाशधर्मा सूय उल्लू के लिए उसके अपने दोष के कारण अधकाररूप है, उसी प्रकार जिन रूपी सूय अभव्यो के लिए बोध रूपी प्रकाश नही कर सकते। अथवा जिस प्रकार साध्य रोग की चिकित्सा करता हुआ वद्य रोगी के प्रति रागी और असाध्य रोग की चिकित्सा न करता हुआ रोगी के प्रति द्वेषी नही कहा जा सकता, उसी प्रकार भव्यजनो के कम-रोग को नष्ट करते हुए जिनेन्द्ररूपी वैद्य उसके प्रति रागी नही होते तथा अभव्य जनो के असाध्य कर्म रूपी रोग का अपचय न करने से उसके प्रति वे द्वेषी नही कहे जा सकते। जैसे कलाकार अनुपयुक्त काष्ठ आदि को छोड कर उपयुक्त काष्ठ आदि मे रूप रचना करता हुआ अनुपयुक्त काष्ठ के प्रति द्वेषी और उपयुक्त काष्ठ के प्रति अनुरागी नही कहा जाता उसी प्रकार योग्य को प्रतिबोध देते हुए और अयोग्य को न देते हुए जिनेश्वर देव न योग्य के प्रति रागी और न अयोग्य के प्रति द्वेषी कहे जा सकते हैं।"[1]

---

१ कीस कहइ कइत्थो किं वा भवियाण चेव बोहत्थ ।
सव्वोपायविहिण्णू किं वाऽभव्वे न बोहइ ॥
नेगतरण कयत्थो जेणोदिन्न जिणिंदनाम स ।
तदयभप्फल तस्स य खवणोवाओऽयमेव जओ ॥
ज व कयत्थस्स वि स अणवकयपरोवगारिसाभव्व ।
परमं पदेमयत्त भासयसाभव्वमिव रविणो ॥
किं व कमलेसु रायो रविणो बोहेइ जेण सो ताइ ।
कुमुएसु व स दोसो ज न विबुज्झति से ताइ ॥
ज बोह मउलणाइ सूरकरामरिसओ समाणाओ ।

क्रमश

पुष्पमाला की तरह सूत्रमाला का ग्रथन

बीजादि बुद्धि-सम्पन्न[1] व्यक्ति (गणधर) उस ज्ञानमयी पुष्पवृष्टि का समग्रतया ग्रहण कर विचित्र पुष्पमाला की तरह प्रवचन[2] के निमित सूत्र माला—शास्त्रग्रथित करते हैं। जिस प्रकार मुक्त—बिखरे हुये पुष्पों का ग्रहण दुष्कर होता है और गूथे हुये पुष्पों या पुष्प-गुच्छों का ग्रहण सुकर होता है, वही प्रकार जिन-वचन रूपी पुष्पों के सम्बन्ध

पिछले पृष्ठ का शेष

कमलकुमुयाण तो त सामण्ण तस्स सेसि च ॥
जह वोसूगाईण पगासधम्मावि सो सदोसेण।
उइग्रो वि तमोरूवो एवमभव्वाण जिणसूरो ॥
सज्झ तिगिच्छमाणो रोग रागी न भण्णए वेज्जो।
मुणमाणो य असज्झ निसेहयतो जह ग्रदोसो ॥
तह भव्वकम्मरोग नासतो रागव न जिणवेज्जो।
न य दोसी ग्रभव्वासज्झकम्मरोग निसेहतो ॥
मोत्तु मजोग जोग्गे दलिए रूव करेइ रूवयारो।
न य रागद्दोसिल्लो तहेव जोग्गे विबोहतो ॥

—विशेषावश्यक भाष्य ११०२ १११०

१ जिस बुद्धि के द्वारा एक पद से अनेक पद गृहीत कर लिये जाते हैं उसे बीज-बुद्धि कहते हैं। बीज बुद्धि के साथ पाठ मे उल्लिखित आदि शब्द कोष्ठ-बुद्धि का सूचक है। जैसे धान्य—कोष्ठ अपने म अखण्ड धान्य भण्डार सजोये रहता है उसी प्रकार जो बुद्धि अखण्ड सूत्र-वाङ्मय को धारण करती है वह कोष्ठ-बुद्धि कही जाती है।

२ प्रवचन का अभिप्राय प्रसिद्ध वचन या प्रशस्त वचन या धम-सघ से है। अथवा प्रवचन से द्वादशाग लिया जा सकता है। वह (द्वादशाग श्रुत) किस प्रकार (उदभावित) हो, इस आशय से द्वादशागात्मक प्रवचन के विस्तार के लिये या सघ पर अनुग्रह करने के लिये गणधर सूत्र रचना करते हैं। द्वादशाग रूप प्रवचन सुख-पूवक ग्रहण किया जा सके, उसका सुखपूवक गुणन परावतन, धारण-स्मरण किया जा सके, सुखपूवक दूसरो को दिया जा सके सुखपूवक पृच्छा विवेचन, विश्लेषण, मन्थन किया जा सके एतदथ गणधरों का सूत्र रचना का प्रयत्न होता है।

में है। पद, वाक्य, प्रकरण, अध्ययन, प्राभृत आदि निश्चित क्रमपूर्वक वे (सूत्र) व्यवस्थित हो, तो यह गृहीत है, यह गृहीतव्य है, इस प्रकार समीचीनता और सरलता के साथ उनका ग्रहण, गुणन-परावर्तन, धारण-स्मरण, दान, पृच्छा आदि सध सकते हैं। इसी कारण गणधरो ने श्रुत की अविच्छिन्न रचना की। उनके लिए वैसा अवश्य करणीय था, क्योंकि उन (गणधरो) की वैसी मर्यादा है। गणधर-नाम-कर्म के उदय से उनके द्वारा श्रुत रचना किया जाना अनिवार्य है। सभी गणधर ऐसा करते रहे हैं।"[1]

स्पष्टीकरण के हेतु भाष्यकार जिज्ञासा-समाधान की भाषा मे आगे बतलाते हैं "तीर्थकर द्वारा आख्यात वचनो को गणधर स्वरूप या कलेवर देते हैं। फिर उनमे क्या विशेषता है? यथार्थता यह है कि तीर्थकर गणधरो की बुद्धि की अपेक्षा से संक्षेप में तत्त्वाख्यान करते हैं, सर्वसाधारण हेतुक विस्तार से नही। दूसरे शब्दो मे अर्हत् (सूक्ष्म) अर्थभाषित करते हैं। गणधर निपुणतापूर्वक उसका (विस्तृत) सूत्रात्मक ग्रथन करते हैं। इस प्रकार धर्म शास्त्र के हित के लिये सूत्र प्रवर्तित होते हैं।"[2]

---

१ त नाणकुसुमवुटि्ठ घेत्तु बीयाइबुद्धिओ सव्व।
गथति पवयणट्ठा माला इव चित्तकुसुमाण ॥
पगय क्रमेण पवयणमिह सुयनाण कह तय होज्जा।
पवयणमहवा सघो गहति तमणुग्गहट्ठाए ॥
घेत्तु व सुह सुहगुणणधारणा दाउ पुच्छिउ चेव।
एएहि कारणेहि जीय ति कय गणहरेहि ॥
मुक्ककुसुमाण गहणाइयाइ जह दुक्कर करेउ जे।
गुच्छाण च सुहयर तहेव जिणवयणकुसुमाण ॥
पय वक्क-पगरण ज्झाय-पाहुडाइनियतक्कमपमाणु।
तदणुसरता सह चिय घेप्पइ गहिय इद गेज्झ ॥
एव गुणण धरण दाण पुच्छा य तदणुसारेण।
होइ सुह जोयपि य कायव्वमिय जओऽवस्स ॥
सव्वेहि गणहरेहि जीयति सुय जओ न वोच्छिन्न।
गणहरमज्जाया वा जीय सव्वाणुचिन्न वा ॥—विशेषावश्यक भाष्य १११११७

२ जिणभणिइ च्चिय सुत्त गणहरकरणम्मि को विसेसो त्थ।
सो तदविक्खं भासइ न उ वित्थरओ सुय किं तु ॥
अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तेइ ॥ वही, १११८१९

अर्थ की अनभिलाप्यता

अर्थ की वागम्यता या वागगम्यता के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करने के अभिप्राय से भाष्यकार लिखते हैं "अर्थ अनभिलाप्य है। वह अभिलाप या निवचन का विषय नहीं है इसलिये शब्दरूपात्मक नहीं है। ऐसी स्थिति में अर्थ का किस प्रकार कथन कर सकते हैं? शब्द का फल अर्थ प्रत्यायन है—वह अर्थ की प्रतीति कराता है, इसलिये शब्द में अर्थ का उपचार किया गया है। इस दृष्टिकोण से अर्थ-कथन का उल्लेख किया गया है।"

पुन आशका करते हैं "तब ऐसा कहा जा सकता है, अर्हत्, अर्थ प्रत्यायक सूत्र ही भाषित करते हैं, अर्थ नहीं। गणधर उसी का सचयन करते है। तब दोनों में क्या अन्तर हुआ ?"

समाधान दिया जाता है—अर्हत् पुरुषापेक्षया—गणधरों की अपेक्षा से स्तोक—थोडा सा कहते हैं, वे द्वादशागी नहीं कहते, अत द्वादशागी की अपेक्षा से वह (अर्हत् भाषित) अर्थ है तथा गणधरों की अपेक्षा से सूत्र।"[1]

मातृका-पद

उत्पाद व्यय तथा ध्रुवत्व मूलक तीन पद, जो अर्हत् द्वारा भाषित होते हैं, मातृका-पद कहे जाते हैं। उस सम्बन्ध में भाष्यकार लिखते हैं "अगादि सूत्र रचना से निरपेक्ष होने के कारण (तीन) मातृका-पद अर्थ कहे जाते हैं। जिस प्रकार द्वादशाग प्रवचन—सघ के लिये हितकर है, उस प्रकार वे (मातृका-पद) हितकर नहीं है। सघ के लिये वही हितकर है जो सुखपूर्वक ग्रहण किया जा सके।

---

१ नणु अत्थोऽणभिलप्पो स कह भासइ न सद्दरूवो सो।
सद्दम्मि तदुवयारो अत्थप्पच्चायणफलम्मि ॥
तो सुत्तमेव भासइ अत्थप्पच्चायग, न नामत्थ।
गणहारिणो वि त चिय करिति को पइविसेसोऽयं ॥
सो पुरिसाविक्खाए थोव भणइ न उ बारसगाइ।
अत्थो तदविक्खाए सुत्त चिय गणहराण त।

—विशेषावश्यक भाष्य ११२० २२

वह गणधरो द्वारा रचित बारह प्रकार का श्रुत है। वह निपुण—नियतगुण या निर्दोष, सूक्ष्म तथा महान्-विस्तृत अर्थ का प्रतिपादक है।"[1]

भाष्यकार ने द्वादशांगात्मक आगम रचना हेतु, परम्परा, क्रम, प्रयोजन आदि के सन्दर्भ मे बहुत विस्तार से जो कहा है, उनका मानसिक झुकाव यह सिद्ध करने की ओर विशेष प्रतीत होता है कि आगमिक परम्परा का उद्गम-स्रोत तीर्थंकर है, अत गणधरो का कर्तृत्व केवल नियूहण, सकलन या ग्रथन मात्र से है।

वैदिक परम्परा मे वेद अपौरुषेय माने गये हैं। परमात्मा ने ऋषियो के मन मे वेद—ज्ञानमय मन्त्रो की अवतारणा की। ऋषियो ने अन्तश्चक्षुओ से उन्हे देखा। फलत शब्दरूप मे उन्होने उन्हे अभिव्यजना दी। ऋषि मन्त्र द्रष्टा थे, मन्त्र स्रष्टा नही। इसी प्रकार भाष्यकार द्वारा व्याख्यात किये गये तथ्यो से यह प्रकट होता है, गणधर वास्तव मे आगम स्रष्टा नही थे, प्रत्युत वे अर्हत् प्ररूपित श्रुत के द्रष्टा या अनुभविता मात्र थे। जो उनके दर्शन और अनुभति का विषय बना, उन्होने शब्द रूप मे उसकी अवतारणा की। भारतवर्ष की प्राय सभी प्राचीन धार्मिक परम्पराओ का यह सिद्ध करने का विशेष प्रयत्न देखा जाता है कि उनका वाड्मय अपौरुषेय, अनादि, ईश्वरीय या आर्ष है।

पूर्वात्मक ज्ञान और द्वादशाग

जैन वाड्मय मे ज्ञानियो की दो प्रकार की परम्परायें प्राप्त होती है—पूर्वधर और द्वादशाग-वेत्ता। पूर्वो मे समग्र श्रुत या वाक्-

---

१ अगाइसुत्तरयणानिरवेक्खो जेण तेण सो अत्थो।
अहवा न सेसपवयणहियउ त्ति जह बारसगमिण ॥
पवयणहिम पुण तय ज सुहगहणाइ गणहरेहितो।
बारसविह पवत्तइ निउण सुहुम महत्य च ॥
नियपगुण वा निउण निद्दोस गणहराऽहवा निउणा।
त पुण किमाइ-पज्जतमाणमिह को व से सारो ॥

—विशेषावश्यक भाष्य ११२३ २५

परिज्ञेय समग्र ज्ञान का समावेश माना गया है। वे सख्या मे चतुर्दश हैं। जैन श्रमणो मे पूवधरो का ज्ञान की दृष्टि से उच्च स्थान रहा है। जो श्रमण चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान धारण करते थे, उन्हे श्रुत-केवली कहा जाता था। एक मत ऐसा है, जिसके अनुसार पूर्व ज्ञान भगवान् महावीर से पूववर्ती समय से चला आ रहा था। भगवान् महावीर के पश्चात् अर्थात् उत्तरवर्ती काल मे जो वाङ्मय सर्जित हुआ, उससे पूव का होने से यह (पूर्वात्मक ज्ञान) 'पूव' शब्द से सम्बोधित किया जाने लगा। उसकी अभिधा के रूप मे प्रयुक्त 'पूव' शब्द सम्भवत इसी तथ्य पर आधृत है।

द्वादशागी से पूव पूर्व-रचना

एक दूसरे अभिमत के अनुसार द्वादशागी की रचना से पूव गणधरो द्वारा अर्हत् भाषित तीन मातृका पदो के आधार पर चतुर्दश शास्त्र रचे गये, जिनमे समग्रश्रुत की अवतारणा की गयी, आवश्यक निर्युक्ति मे ऐसा उल्लेख है।[1]

द्वादशागी से पूव—पहले यह रचना की गयी, अत ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्वों के नाम से विख्यात हुये। श्रुत ज्ञान के कठिन, कठिनतर और कठिनतम विषय शास्त्रीय पद्धति से इनमे निरूपित हुये। यही कारण है, यह वाङ्मय विशेषत विद्वत्प्रयोज्य था। साधारण बुद्धिवालो के लिये यह दुगम था, अतएव इसके आधार पर उनके लाभ के लिये द्वादशागी की रचना की गयी।

---

१ धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाइ देसया तस्स।
सव्वजिणाण गणहरा चोद्दसपुव्वा उ ते तस्स॥
सामाइयाइया वा वयजीवनिकायभावणा पढम।
एसो धम्मोवाओ जिणेहि सव्वेहि उवइट्ठो॥

—आवश्यक निर्युक्ति : गाथा २९२ ९३

आवश्यक नियुक्ति[1] विवरण मे आचाय मलयगिरि ने इस सम्बध मे जो लिखा है, पठनीय है।

दृष्टिवाद मे पूर्वो का समावेश

द्वादशागी के बारहवें भाग का नाम दृष्टिवाद है। वह पाच भागो मे विभक्त है—१ परिकम २ सूत्र, ३ पूर्वानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका। चतुथ विभाग पूर्वगत मे चतुदश पूव ज्ञान का समावेश माना गया है। पूव ज्ञान के आधार पर द्वादशागी की रचना हुई, फिर भी पूव ज्ञान को छोड देना सम्भवत उपयुक्त नही लगा। यही कारण है कि अन्तत दृष्टिवाद मे उसे सन्निविष्ट कर दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि जैन तत्व ज्ञान के महत्वपूण विषय उसमे सूक्ष्म विश्लेषण पूवक बडे विस्तार से व्याख्यात थे।

विशेषावश्यक भाष्य मे उल्लेख है कि यद्यपि भूतवाद या दृष्टिवाद मे समग्र उपयोग—ज्ञान का अवतरण अर्थात् समग्र वाङ्मय अन्तभूत है। परन्तु, अल्पबुद्धि वाले लोगो तथा स्त्रियो के उपकार के हेतु उससे शेष श्रुत का नियूहण हुआ, उसके आधार पर सारे वाङ्मय का सजन हुआ।[2]

पूर्व रचना काल तारतम्य

पूर्वो की रचना के सम्बन्ध मे आचाराग-नियुक्ति मे एक और

---

१ ननु पूव ताव[त्] पूर्वाणि भगवद्भिगणधरैरुपनिबध्यन्ते, पूव करणात् पूर्वाणीति पूर्वाचायप्रदर्शित व्युत्पत्तिश्रवणात्, पूर्वेषु च सकलवाङ्मयस्यावतारो, न खलु तदस्ति यत्पूर्वेषु नाभिहित, तत किं शेषागविरचनेनागबाह्यविरचनेन वा ? उच्यते, इह विचित्रा जगति प्राणिन तत्र ये दुर्मेधस ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामतिगम्भीरार्थत्वात् तेषा च दुर्मेधसत्वात् स्त्रीणा पूर्वाध्ययनानधिकार एव, तासा तुच्छत्वादिदोषबहुलत्वात्।

—पृ० ४८ प्रकाशक आगमोदय समिति बम्बई

२ जइवि य भूयावाए सव्वस्स वओगयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहा वि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥

—विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५५१

सकेत किया गया है, जो पूव के उल्लेखो से भिन्न है। वहा सवप्रथम आचाराग की रचना का उल्लेख है, उसके अनन्तर अग साहित्य और इतर वाड्मय का। जहा एक ओर पूव वाड्मय की रचना के सम्बन्ध मे प्राय अधिकाश विद्वानो का अभिमत उनके द्वादशागी से पहले रचे जाने का है, वहा आचाराग-नियुक्ति म सब से पहले आचाराग के सजन का उल्लेख एक भेद उत्पन्न करता है। वतमान मे उसके अपाकरण का कोई साधक हेतु उपलब्ध नही है, इसलिये इसका निष्कष निकालने की ओर विद्वज्जनो का प्रयास रहना चाहिए।

सभी मतो के परिप्रेक्ष्य मे ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है कि पूव वाड्मय की परम्परा सम्भवत पहले से रही है और वह मुख्यत तत्त्ववाद की निरूपक रही है। वह विशेषत उन लोगो के लिये थी, जो स्वभावत दाशनिक मस्तिष्क और तात्त्विक रुचि-सम्पन्न होते थे सवसाधारण के लिये उसका उपयोग नहीं था। इसलिये कुछ उक्तिया प्रचलित हुई —बालको, नारियो, वृद्धो, अल्पमेधावियो या गूढ तत्त्व समझने की न्यून क्षमता वालो के हित के लिये प्राकृत मे धम सिद्धात की अवतारणा हुई।[१]

पूर्व वाड्मय की भाषा

पूव वाड्मय अत्यधिक विशालता के कारण शब्द-रूप मे समग्रतया व्यक्त किया जा सके, सम्भव नही माना जाता। परम्परया कहा जाता है कि, मसी-चूण की इतनी विशाल राशि हो कि अबारी सहित हाथी भी उसमे ढक जाये, उस मसी चूण को जल मे घोला जाए। उससे पूव लिखे जाए, तथापि वह मसी चूण अपर्याप्त रहगा। वे लेख मे नही बाघे जा सकेंगे। अर्थात् पूव ज्ञान समग्रतया शब्द का विषय नही है। वह लब्धिरूप—आत्मक्षमतानुस्यूत है। पर, इतना सम्भाव्य मानना ही होगा कि जितना भी अश रहा हो, शब्द-रूप

---

१ बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणा नृणा चारित्रकाक्षिणाम्।
अनुग्रहाथ तत्त्वज्ञ सिद्धान्त प्राकृत कृत ॥

—दशवकालिक वृत्ति पृ० २०३

मे उसकी अवतारणा अवश्य हुई। तब प्रश्न उपस्थित होता है, किस भाषा मे ऐसा किया गया ?

साधारणतया यह मान्यता है कि पूर्व संस्कृत-बद्ध[1] थे। कुछ विद्वानो का इस सम्बन्ध मे अन्यथा मत भी है। वे पूर्वों के साथ किसी भी भाषा को जोडना नही चाहते। लब्धिरूप होने से जिस किसी भाषा मे उनकी अभिव्यजना सम्भाव्य है। सिद्धान्तत ऐसा भी सम्भावित हो सकता है, पर चतुर्दश पूर्वधरो की, दश पूर्वधरो की, क्रमश हीयमान पूर्वधरो की एक परम्परा रही है। उन पूर्वधरो द्वारा अधिगत पूर्व ज्ञान, जितना भी वाग् विषयता मे संचित हुआ, वहा किसी-न-किसी भाषा का अवलम्बन अवश्य ही रहा होगा। यदि संस्कृत मे वैसा हुआ, तो स्वभावत एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जैन मान्यता के अनुसार प्राकृत (अर्द्ध मागधी) आदि भाषा है। तीर्थंकर अर्द्ध मागधी मे धर्म-देशना देते हैं, जो श्रोतृ समुदाय की अपनी अपनी भाषा मे परिणत हो जाती है। देवता इसी भाषा मे बोलते हैं। अर्थात् वैदिक परम्परा मे विश्वास रखने वालो के अनुसार छदस् (वैदिक संस्कृत) का जो महत्व है, जैन धर्म मे आस्था रखने वालो के लिये आगमत्व के सन्दर्भ मे वही महत्व प्राकृत का है।

भारत मे प्राकृत बोलिया अत्यन्त प्राचीन काल से लोक भाषा के रूप मे व्यवहृत रही है। छदस् सम्भवत उन्ही बोलियो मे से किसी एक पर आधृत शिष्ट रूप है। लौकिक संस्कृत का काल उससे पश्चाद्वर्ती है। इस स्थिति मे पूर्वश्रुत को भाषात्मक दृष्टि से संस्कृत के साथ जोडना कहा तक सगत है ? कही पूर्ववर्ती काल मे ऐसा तो नही हुआ, जब संस्कृत का साहित्यिक भाषा के रूप मे सर्वातिशायी गौरव पुन प्रतिष्ठापन्न हुआ, तब जैन विद्वानो के मन मे भी वैसा आकर्षण जगा हो कि वे भी अपने आदि-वाड्मय का उसके साथ

---

१ यदिति श्रुतमस्माभि पूर्वेषां सम्प्रदायत ।
चतुर्दशापि पूर्वाणि संस्कृतानि पुराभवन् । ११३
प्रज्ञातिशयसाध्यानि तान्युच्छिन्नानि कालत ।
अधुनैकादशाङ्ग्यस्ति सुधर्मस्वामिभाषिता । ११४

—प्रभावक चरित्र

लगाव सिद्ध करें जिससे उसका माहात्म्य बढे। निश्चयात्मक रूप मे कुछ नही कहा जा सकता, पर, सहसा यह मान लेना समाधायक नही प्रतीत होता कि पूर्व-श्रुत संस्कृत निबद्ध रहा।

पूर्वगत एक परिचय

पूर्वगत के अन्तगत विपुल साहित्य है। उसके अंतवर्ती चौदह पूर्व हैं

१ उत्पाद पूर्व—समग्र द्रव्यों और पर्यायों के उत्पाद या उत्पत्ति को अधिकृत कर विश्लेषण किया गया है। इसका पद-परिमाण एक करोड है।

२ अग्रायणीय पूर्व—अग्र तथा अयन शब्दों के मेल से अग्रायणीय शब्द निष्पन्न हुआ है। अग्र का अर्थ[1] परिमाण और अयन का अर्थ गमन—परिच्छेद या विशदीकरण है। अर्थात् इस पूर्व मे सब द्रव्यों, सब पर्यायों और सब जीवों के परिमाण का वर्णन है। पद-परिमाण छियानवें लाख है।

३ वीर्यप्रवाद पूर्व—सकर्म और अकर्म जीवों के वीर्य[2] का विवेचन है। पद परिमाण सत्तर लाख है।

४ अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व—लोक मे धर्मास्तिकाय आदि जो हैं और खर-विषाणादि जो नही हैं, उनका इसमे विवेचन है अथवा सभी वस्तुएँ स्वरूप की अपेक्षा से हैं तथा पर रूप की अपेक्षा से नही है, इस सम्बन्ध

---

१ अग्र परिमाणं तस्य अयनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थ। तस्मै हितमग्रायणीयम्, सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारि—इति भावार्थ। तथाहि तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते।

—अभिधान राजेन्द्र चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

२ अन्तरंग शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम।

मे विवेचन है।[1] पद-परिमाण साठ लाख है।

५ ज्ञानप्रवाद पूर्व—मति आदि पाच प्रकार के ज्ञान का विस्तारपूर्वक विश्लेषण है। पद-परिमाण एक कम एक करोड है।

६ सत्य प्रवाद पूर्व—सत्य का अर्थ सयम या वचन[2] है। उनका विस्तार पूर्वक सूक्ष्मता से इसमे विवेचन है। पद-परिमाण छ अधिक एक करोड है।

७ आत्म प्रवाद पूर्व—आत्मा या जीव का नय-भेद से अनेक प्रकार से वर्णन है। पद-परिमाण छब्बीस करोड है।

८ कर्म प्रवाद पूर्व—ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश आदि भेदो की दृष्टि से विस्तृत वर्णन किया गया है। पद-परिमाण एक करोड छियासी हजार है।

९ प्रत्याख्यान पूर्व—भेद-प्रभेद सहित प्रत्याख्यान-त्याग का विवेचन है। पद परिमाण चौरासी लाख है।

१० विद्यानुप्रवाद पूर्व—अनेक अतिशय-चमत्कार-युक्त विद्याओ का, उनके अनुरूप साधनो का तथा सिद्धियो का वर्णन है। पद परिमाण एक करोड दश लाख है।

११ अवन्ध्य पूर्व—वन्ध्य शब्द का अर्थ निष्फल होता है। निष्फल न होना अवन्ध्य है। इसमे निष्फल न जाने वाले शुभ फलात्मक ज्ञान, तप, सयम आदि का तथा

---

१ यत् वस्तु लोकेऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति खरशृगादि तत्प्रवदतीत्यस्तिनास्तिप्रवादम्। अथवा सर्व वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति अस्तिनास्तिप्रवादम्।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

२ सत्य सयमो वचन वा तत्सत्यसयम वचन वा प्रकर्षेण सप्रपच वदतीति सत्यप्रवादम्।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

अशुभ फलात्मक प्रमाद आदि का निरूपण है । पद-परिमाण छब्बीस करोड है ।

१२ प्राणायु प्रवाद पूव—प्राण अर्थात पाच इन्द्रिय, मानस आदि तीन वल, उच्छ्वास-नि श्वास तथा आयु का भेद प्रभेद सहित विश्लेषण है । पद परिमाण एक करोड छप्पन लाख है ।

१३ क्रिया प्रवाद पूव—कायिक आदि क्रियाओ का, सयमात्मक क्रियाओ का तथा स्वाच्छन्द क्रियाओ का विशाल-विपुल विवेचन है । पद परिमाण नौ करोड है ।

१४ लोक बिन्दुसार पूव—लोक मे या श्रुत लोक मे अक्षर के ऊपर लगे बिन्दु की तरह जो सर्वोत्तम तथा सर्वाक्षर-सन्निपात लब्धि है, उस ज्ञान का वणन है ।[1] पद-परिमाण साढे बारह करोड है ।

चूलिकाएँ

चूलिकाएँ पूर्वों का पूरक साहित्य है। इन्हे परिकर्म, सूत्र, पूवगत तथा अनुयोग (दृष्टिवाद के भेदो) मे उक्त और अनुक्त अथ की सग्राहिका ग्रथ पद्धतिया[2] कहा गया है। दृष्टिवाद के इन भेदो मे जिन जिन विषयो का निरूपण हुआ है, उन-उन विषयो मे विवेचित महत्वपूण अर्थो-तथ्यो तथा कतिपय अविवेचित अर्थो-प्रसगो का इन चूलिकाओ मे विवेचन किया गया है। इन चूलिकाओ का पूव वाङ्मय मे विशेष महत्व है। ये चूलिकाएँ श्रुत रूपी पवत पर चोटियो की तरह सुशोभित हैं।

---

१ लोके जगति श्रुतलोके वा अक्षरस्योपरि बिन्दुरिव सार सर्वोत्तम सर्वाक्षर-सन्निपातलब्धिहेतुत्वात् लोकबिन्दुसारम् ।

—अभिधान राजेन्द्र चतुथ भाग, पृ० २५१५

२ यथा मेरौ चूला तत्र चूला इव दृष्टिवादे परिकमसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्ताथ सग्रहपरा ग्रथपद्धतय ।

वही पृ० २५१५

चूलिकाओं की संख्या

पूर्वगत के अन्तर्गत चतुर्दश पूर्वों मे प्रथम चार पूर्वों की चूलिकाएँ है। प्रश्न उपस्थित होता है, दृष्टिवाद के भेदों मे पूर्वगत एक भेद है। उसमे चतुर्दश पूर्वों का समावेश है। उन पूर्वों में से चार–उत्पाद,अग्रायणीय,वीर्य-प्रवाद तथा अस्ति-नास्ति-प्रवाद पर चूलिकाएँ हैं। इस प्रकार इनका सम्बन्ध इन चार पूर्वों से होता है। परिकर्म,सूत्र, पूर्वगत और अनुयोग मे उक्त अनुक्त अर्थों-विषयो की संग्राहिका के रूप मे भी इनका उल्लेख किया गया है। उसकी सगति किस प्रकार हो सकती है? विभाजन या व्यवस्थापन की दृष्टि से पूर्वों को दृष्टिवाद के भेदो के अन्तर्गत पूर्वगत मे लिया गया है। वस्तुत उनमे समग्र श्रुत की अवतारणा है, अत परिकर्म, सूत्र पूर्वगत तथा अनुयोग के विषय भी मौलिकतया उनमे अनुस्यूत हैं ही।

चार पूर्वों के साथ चूलिकाओ का जो सम्बन्ध है, उसका अभिप्राय है कि इन चार पूर्वों के सन्दर्भ मे इन चूलिकाओ द्वारा दृष्टिवाद के सभी विषयो का, जो यहाँ विस्तृत या सक्षिप्त व्याख्यात हैं, कुछ कम व्याख्यात है, कुछ केवल साकेतिक हैं, विशदरूपेण व्याख्यात नही है, सग्रह है। इसका आशय है कि चूलिकाओ मे दृष्टिवाद के सभी विषय सामान्यत साकेतिक हैं पर, विशेषत जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत तथा अनुयोग म विशदतया व्याख्यात नही हैं, उनका इनमे प्रस्तुतीकरण है। पहले पूर्व की चार, दूसरे की बारह, तीसरे की आठ तथा चौथे की दश चूलिकाएँ मानी गयी हैं। इस प्रकार कुल ४+१२+८+१०=३४ चूलिकाए हैं।

वस्तु-वाङ्मय

चूलिकाओ के साथ-साथ 'वस्तु' सज्ञक एक और वाङ्मय है, जो पूर्वों का विश्लेषक या विवेचक है। इसे पूर्वान्तर्गत अध्ययन-स्थानीय ग्रन्थों के रूप मे माना गया है।[1] श्रोताओ की अपेक्षा से

१ पूर्वान्तर्गतेषु अध्ययनस्थानीयेषु ग्रन्थविशेषेषु।

—अभिधान राजेन्द्र, षष्ठ भाग, पृ० ८७१

सूक्ष्म जोवादि भाव-निरूपण मे भी 'वस्तु' शब्द अभिहित है।[1] ऐसा भी माना जा जाता है, सब दृष्टियो की इसमे अवतारणा ह।[2]

पूर्व-विच्छेद-काल

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार आचाय स्थूलभद्र के देहावसान के साथ अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हो गया जो उन्ह सूत्रात्मक रूप मे प्राप्त थे, अर्थात्मक रूप मे नही। तदनन्तर दश पूर्वों की परम्परा आय वज्र तक चलती रही। नन्दी स्थविरावली के अनुसार आय वज्र भगवान महावीर के १८ वें पट्टधर थे। उनका देहावसान वीर-निर्वाणाब्द ५८४ मे माना जाता हैं। आय वज्र के स्वगवास के साथ दशम पूव विच्छिन्न हो गया।

अनुयोग का अर्थ

अनुयोग शब्द अनु और योग के सयोग से बना ह। अनु उपसर्ग यहा आनुकूल्यार्थवाचक है। सूत्र (जो सक्षिप्त होता ह) का, अर्थ (जो विस्तीर्ण होता ह) के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसगत सयोग अनुयोग कहा जाता है। आगमो के विश्लेषण तथा व्याख्यान के प्रसग मे प्रयुक्त विषय विशेष का द्योतक ह। अनुयोग चार भेदो मे विभक्त किये गये हैं[3] १ चरणकरणानुयोग[4] २ धमकथानुयोग, ३ गणितानुयोग तथा ४ द्रव्यानुयोग।[5] आगमो मे इन चार अनुयोगो का विवेचन है। कही विस्तार से वर्णित हुए हैं और कही सक्षेप

---

१ श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादि भावकथने।

२ सवदृष्टीना यत्र समवतारस्तस्य जनके।

अभिधान राजेन्द्र चतुथ भाग, पृ० २५१६

३ चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य।
दवियाऽणुओगे य तहा, जहकम्म ते महड्ढीया॥

—अभिधान राजेन्द्र प्रथम भाग पृ० ३५६

४ चरण का अथ चर्या, आचार या चारित्र्य है। इस सम्बन्ध में जहा विवेचन—विश्लेषण हो, वह चरणकरणानुयोग है।

५ द्रव्यों के सन्दभ में सवसत्पर्यायालोचनात्मक विश्लेषण या विशद विवेचन जिसमें हो, वह द्रव्यानुयोग है।

से। आर्य वज्र तक आगमो मे अनुयोगात्मक दृष्टि से पृथक्ता नही थी। प्रत्येक सूत्र चारो अनुयोगो द्वारा व्याख्यात होता था। आवश्यक निर्युक्ति मे इस सम्बन्ध मे उल्लेख है 'कालिक श्रुत (अनुयोगात्मक) व्याख्या की दृष्टि से अपृथक् थे अर्थात् उनमे चरणकरणानुयोग प्रभृति अनुयोग चतुष्टय के रूप मे अविभक्तता थी। आर्य वज्र के अनन्तर कालिक श्रुत और दृष्टिवाद की अनुयोगात्मक पृथक्ता (विभक्तता) की गयी।"[1]

आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध मे सूचित किया है "तब तक साधु तीक्ष्णप्रज्ञ थे, अत अनुयोगात्मक दृष्ट्या अविभक्तरूपेण व्याख्या का प्रचलन था—प्रत्येक सूत्र मे चरणकरणानुयोग आदि का अविभागपूर्वक वर्तन था।"

निर्युक्ति मे जो केवल कालिक श्रुत का उल्लेख किया गया है, आचार्य मलयगिरि ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है "मुख्यता की दृष्टि से यहा कालिक श्रुत का ग्रहण है, अन्यथा अनुयोगो का तो कालिक, उत्कालिक आदि मे—सर्वत्र अविभाग[2] था ही।"

विशेषावश्यक भाष्य मे इस सम्बन्ध मे विश्लेषण करते हुए कहा गया है 'आर्य वज्र तक जब अनुयोग अपृथक् थे, तब एक ही सूत्र की चारो अनुयोगो के रूप मे व्याख्या होती थी।"

अनुयोग विभक्त कर दिए जाएँ, उनकी पृथक्करण कर छटनी कर दी जाए, तो वहा (उस सूत्र मे) वे चारो अनुयोग व्यवछिन्न नही हो जाएँगे ? भाष्यकार समाधान देते हैं कि "जहा किसी एक सूत्र की

---

१ जावत अज्ज वइरा अपुहुत्त कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्त कालिअ सुअ दिट्ठिवाय य॥

—आवश्यक निर्युक्ति ७६३

२ यावदार्यवज्रा–आर्यवज्रस्वामिनो मुखो महामतयस्तावत्कालिकानुयोगस्य–कालिकश्रुतव्याख्यानस्यापृथक्त्व–प्रतिसूत्र चरणकरणानुयोगादीनामविभागेन वर्तनमासीत् तदा साधूना तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्। कालिकग्रहण प्राधान्यख्यापनार्थम् अन्यथा सर्वानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्।

— आवश्यक निर्युक्ति प० ३८३, प्रका० आगमोदय समिति,

व्याख्या चारो अनुयोगो मे होती थी वहा चारो मे से अमुक अनुयोग के आधार पर व्याख्या किये जाने का वहा आशय है।"

आर्य रक्षित द्वारा विभाजन

अनुयोग विभाजन का कार्य आर्य रक्षित द्वारा सम्पादित हुआ। आर्य रक्षित वज्र के पट्टाधिकारी थे। वे महान् प्रभावक थे देवेन्द्रो द्वारा अभिपूजित थे। उन्होने युग की विषमता को देखते हुए, यहा, कौनसा अनुयोग व्याख्येय है, इसकी मुख्यता की दृष्टि से चार प्रकार से विभाजन किया—सूत्र-ग्रन्थो को चार अनुयोगो मे बाटा।[1]

आर्य रक्षित ने शिष्य पुष्यमित्र–दुर्वलिका पुष्यमित्र को, जो मति,[2] मेधा[3] और धारण[4] आदि समग्र गुणो से युक्त थे, कष्ट से श्रुतार्णव को धारण करते देख कर अतिशय ज्ञानोपयोग द्वारा यह जाना कि लोग क्षेत्र और काल के प्रभाव से भविष्य मे मति, मेधा और धारणा से परिहीन होगे। उन पर अनुग्रह[5] करते हुए उन्होने कालिक आदि श्रुत के विभाग द्वारा अनुयोग[6] किये।

---

१ अपुहुत्ते अणुओगे चत्तारि दुवार भासए एगो।
पुहुत्ताणुओगकरणे ते अत्थ तओ विवोच्छिन्ना ॥
किं वइरेहिं पुहुत्त कयमह तदणतरेहिं भणियम्मि।
तदणतरेहिं तदभिहिय गहियसुत्तत्थसारेहिं ॥
देविदवदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खियज्जेह।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ॥
— विशेषावश्यक भाष्य २२८६ ८८

२ मति=अवबोध शक्ति

३ मेधा=पाठ शक्ति

४ धारणा=अवधारणा शक्ति

५ ऐन्युगीन पुरुषानुग्रहबुद्धया चरणकरण द्रव्य धर्मकथा गणितानुयोग भेदाच्चतुर्धा।
— सूत्रकृताङ्गटीका, उपोद्घात

६ नाऊण रक्खियज्जो मइमेहाधारणासमग्गा वि।
किच्छेण धरेमाण सुयण्णव पूसमित्त ति ॥
अाइसयकओवओगो मइमेहाधारणाइपरिहीणे।
नाऊ गमेस्स पुरिसे खेत्त कालाणुभाव च ॥
साणुग्गहोणुओगे वीसु कासी य सुयविभागे ण ॥
—विशेषावश्यक भाष्य २२८९ ९१

विशेषावश्यक भाष्य के वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र ने २५११वी गाथा की व्याख्या मे प्रसगोपात्ततया यह सूचित किया है कि 'दुबलिका पुष्यमित्र के अतिरिक्त आर्य रक्षित के तीन मुख्य शिष्य और थे—विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल। आचार्य रक्षित ने दुबलिका पुष्यमित्र को आदेश दिया, वे विन्ध्य को पूर्वो की वाचना दें। दुबलिका पुष्यमित्र वाचना देने लगे। पर पुनरावृत्ति न कर पाने के कारण नवम पूर्व की उनको विस्मृति होने लगी। आचार्य रक्षित को उस समय लगा, ऐसे बुद्धिशाली व्यक्ति को भी यदि सूत्रार्थ विस्मृत होने लगे हैं, तब भविष्य मे और अधिक कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी। उन्होंने इस विवशता से प्रेरित होकर पृथक् पृथक् अनुयोगो की व्यवस्था की।"

अनुयोगो के आधार पर सूत्रा का विभाजन निम्नाकित प्रकार से हुआ [1]

१ प्रथम—चरणकरणानुयोग मे कालिक श्रुत ग्यारह अग, महाकल्प श्रुत तथा छेद सूत्र।

२ द्वितीय—धर्मकथानुयोग मे ऋषिभाषित।

३ तृतीय—गणितानुयोग मे सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।

४ चतुर्थ—द्रव्यानुयोग मे दृष्टिवाद।

आगमो की प्रथम वाचना

अनेक स्रोतो से यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य मे बारह वर्षो का भीषण दुर्भिक्ष पडा। जनता अन्नादि खाद्य पदार्थों के अभाव मे त्राहि-त्राहि करने लगी। भिक्षोपजीवी श्रमणो को भी

---

१ कालियसुय च इसिभासियाइ तइया य सूरपन्नती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो॥
ज च महाकप्पसुय जाणि अ सेसाणि छेयसुत्ताणि।
चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि॥

विशेषावश्यक भाष्य २२६४ ९५

तव भिक्षा कहां से प्राप्त होती ? स्थविरावली में इस सम्बन्ध में उल्लेख है "वह दुष्काल कालरात्रि के समान कराल था। साधु-संघ (भिक्षापूर्वक) जीवन निर्वाह हेतु समुद्रतट पर चला गया। अधीत का गुणन-आवृत्ति न किये जाने के कारण साधुओं का श्रुत विस्मृत हो गया। अभ्यास न करते रहने से मेधावी जनों द्वारा किया गया अध्ययन भी नष्ट हो जाता है। दुष्काल का अन्त हुआ। सारा साधु-संघ पाटलिपुत्र में मिला। जिस जिस को जो अंग, अध्ययन, उद्देशक आदि स्मरण थे, उन्हें संकलित किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का संकलन नहीं हो सका। संघ को चिंता हुई। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे। वे नेपाल में साधना कर रहे थे। श्रीसंघ ने उन्हें बुलाने के लिए दो मुनि भेजे।"[1] आचार्य हरिभद्र के प्राकृत उपदेश पद[2] तथा आवश्यक चूर्णि में भी इसी तरह का वर्णन है।

नीरनिधि अथवा समुद्र-तट पर साधुओं के जाने के उल्लेख से श्रमण-संघ के दक्षिणी समुद्र-तट या दक्षिण देश जाने की कल्पना की

१　इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत् ।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥
अगुण्यमानं तु तदा साधूनां विस्मृतं श्रुतम् ।
अनभ्यसनतो नश्यत्यधीतं धीमतामपि ॥
संघोऽथ पाटलिपुत्रे, दुष्कालान्तेऽखिलोऽमिलत् ।
यदङ्गाध्ययनोद्देशाद्यासीद् यस्य तदादिकम् ॥
ततश्चैकादशाङ्गानि श्रीसंघोऽमेलयत्तदा ।
दृष्टिवादनिमित्तं च तस्थौ किंचिद् विचिन्तयन् ॥
नेपालदेशमार्गस्थं, भद्रबाहुं च पूर्विणम् ।
ज्ञात्वा संघः समाह्वातुं ततः प्रैषीन्मुनिद्वयम् ॥

—स्थविरावली चरितम् ९५५-५९

२　आसी य तम्मि समये दुक्कालो दो य दसम वरिसाणि ।
सव्वो साहुसमूहो गओ तओ जलहितीरेसु ॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया ।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थे त्ति ॥
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणमाइसंघडिउं ।
तं सव्वं एक्कारस अंगाइं तहेव ठवियाइं ॥

जाती है। किन्तु नीरनिधि से दक्षिणी समुद्र तट ही क्यो लिया जाए ? उससे वगोपसागर (वगाल की खाडी) भी लिया जा सकता है, जिस के तट पर उडीसा की एक लम्बी पट्टी अवस्थित है, जहा जन धम का सचार हो चुका था।

भद्रबाहु द्वारा पूर्वों की वाचना

आचाय भद्रबाहु के पास श्रीसघ का आदेश पहुँचा। वे महाप्राण ध्यान की साधना मे निरत थे। उनके लिए पाटलिपुत्र आपाना सम्भव नही था। उससे उनकी साधना व्याहत होती थी। उन्होने स्वीकृति दी कि वहा रहते हुए वे समागत अध्ययनार्थियो को पूर्वों की वाचना दे सकेंगे—अध्यापन करा सकेंगे। कहा जाता है, तदनुसार श्रीसघ ने पन्द्रह सौ श्रमणो को नेपाल भेजा। उनमे पाच सौ विद्यार्थी श्रमण थे तथा प्रत्येक अध्ययनार्थी श्रमण के खान-पान आदि आवश्यक कार्यों की व्यवस्था, परिचर्या आदि के हेतु दो-दो श्रमण नियुक्त थे। इस प्रकार कुल एक हजार परिचारक श्रमण थे।

आचाय भद्रबाहु ने वाचना देना प्रारम्भ किया। उत्तरोत्तर वाचना चलते रहने मे कठिनाई सामने आने लगी। दृष्टिवाद पूर्व ज्ञान की अत्यधिक दुरूहता व जटिलता तथा तदनुरूप (तदपेक्ष) बौद्धिक क्षमता व धारणा शक्ति की न्यूनताके कारण अध्ययनार्थी श्रमण परिश्रान्त होने लगे। अन्तत वे घबरा गये। उनका साहस टूट गया। स्थूलभद्र के अतिरिक्त कोई भी श्रमण अध्ययन में नही टिक सका। स्थूलभद्र ने अपने अध्ययन का क्रम निरबाध चालू रखा। दश पूर्वों का सूत्रात्मक तथा अर्थात्मक ज्ञान उन्हें अधिगत हो गया। आगे अध्ययन चल ही रहा था। इस बीच एक घटना घट गयी। उनकी बहिनें जो साध्विया थी, श्रमण भाई की श्रुताराधना देखने के लिये आई। स्थूलभद्र इसे पहले ही जान गये। बहिनो को चमत्कार दिखाने के हेतु विद्या-बल से उन्होने सिंह का रूप बना लिया। बहिनें भय से ठिठक गई। स्थूलभद्र तत्क्षण असली रूप में आ गये। बहिनें चकित हो गयी।

आचाय भद्रबाहु ने सब कुछ जान लिया। वे विद्या के द्वारा बाह्य चमत्कार दिखाने के पक्ष मे नही थे, अत इस घटना से वे स्थूलभद्र पर बहुत रुष्ट हुये। आगे वाचना देना बन्द कर दिया। स्थूलभद्र ने क्षमा मागा। बहुत अनुनय विनय किया। तब उन्होने आगे के चार पूर्वो का ज्ञान केवल सूत्र रूप मे दिया अर्थ नही बतलाया। स्थूलभद्र को चतुर्दश पूर्वो का पाठ तो ज्ञात हो गया, पर वे अर्थ दश ही पूर्वो का जान पाये, अत उन्हे पाठ की दृष्टि से चतुर्दश पूर्वधर और अर्थ की दृष्टि से दश पूर्वधर कहा जा सकता है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से भद्रबाहु के अनन्तर चार पूर्वो का विच्छेद हो गया।

प्रथम वाचना के अध्यक्ष एव निर्देशक

ग्यारह अ गो का सकलन पाटलिपुत्र मे सम्पन्न हुआ। इसे प्रथम आगम-वाचना कहा जाता है। इसकी विधिवत् अध्यक्षता या नेतृत्व किसने किया, स्पष्ट ज्ञात नही होता। आचाय भद्रबाहु विशिष्ट योग साधना के सन्दर्भ मे नेपाल गये हुये थे, अत उनका नेतृत्व तो सम्भव था ही नही। भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र की ही सब दृष्टियो से वरीयता अभिमत है। यह भी हो सकता है, आचाय भद्रबाहु जब नेपाल जाने लगे हो, उन्होने सघ का अधिनायकत्व स्थूलभद्र को सौप दिया हो। अधिकतम यही सम्भावना है, प्रथम आगम वाचना स्थूलभद्र के नेतृत्व म हुई हो।

द्वितीय वाचना—माथुरी वाचना

आवश्यक चूर्णि के अनुसार आगमो की प्रथम वाचना वीर-निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् हुई। उसमे ग्यारह अ ग सकलित हुए। गुरु शिष्य क्रम से वे शताब्दियो तक चालू रहे, पर फिर वीर-निर्वाण के लगभग पौने सात शताब्दियो के पश्चात् ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई कि आगमो के पुन सकलन का उद्योग करना पडा।

कहा जाता है, तब बारह वर्षों का भयानक दुर्भिक्ष पडा। लोक जीवन अस्त व्यस्त हो गया। लोगो को खाने के लाले पड गये। श्रमणो पर भी उसका प्रतिकूल प्रभाव पडा। खान-पान, रहन-सहन,

आदि की अनुकूलता मिट गयी। श्रामण्य में स्थिर रह पाना अत्यधिक कठिन हो गया। अनेक श्रमण काल-कवलित हो गये। नन्दी चूर्णि में इस सम्बन्ध में उल्लेख है—ग्रहण, गुणन, अनुप्रेक्षा आदि के अभाव में श्रुत नष्ट हो गया। कुछ का कहना है, श्रुत नष्ट नहीं हुआ, अधिकांश श्रुत-वेत्ता नष्ट हो गये। बात लगभग समान ही है। किसी भी प्रकार से हो, श्रुत-श्रृंखला व्याहत हो गयी।

दुर्भिक्ष का समय बीता। समाज की स्थिति सुधरी। जो श्रमण बच पाये थे, उन्हें चिंता हुई कि श्रुत का संरक्षण कैसे किया जाये? उस समय आचार्य स्कन्दिल युग-प्रधान थे। उनका युग-प्रधानत्व-काल इतिहास-वेत्ताओं के अनुसार वीर-निर्वाण ८२७-८४० माना गया है। नन्दी स्थविरावली में आचार्य स्कन्दिल का उल्लेख भगवान् महावीर के अनन्तर चौबीसवें स्थान पर है। नन्दीकार ने उनकी प्रशस्ति में कहा है कि "आज जो अनुयोग-शास्त्रीय ग्रंथ-परम्परा भारत में प्रवृत्त है, वह उन्हीं की देन है। वे परम यशस्वी थे। नगर-नगर में उनकी कीर्ति परिव्याप्त थी।"

नन्दी सूत्र देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा विरचित माना जाता है। वे अन्तिम आगम-वाचना (तृतीय वाचना) के अध्यक्ष थे। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आचार्य स्कन्दिल के अनुयोग के भारत में प्रवृत्त रहने का जो उल्लेख किया है, उसका कारण यह प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने नेतृत्व में समायोजित वाचना में यद्यपि पिछली दोनों (माथुरी और वालभी) वाचनाओं को दृष्टिगत रखा था फिर भी आचार्य स्कन्दिल की (माथुरी) वाचना को मुख्य आधार रूप में स्वीकार किया था, अतः उनके प्रति आदर व्यक्त करने की दृष्टि से उनका यह कथन स्वाभाविक है।

मथुरा उस समय उत्तर भारत में जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। वहाँ आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम-वाचना का आयोजन हुआ। आगम-वेत्ता मुनि दूर-दूर से आये। जिन्हें जैसा स्मरण था, सब समन्वित करते हुए कालिक श्रुत संकलित किया गया। उस समय आचार्य स्कन्दिल ही एक मात्र अनुयोगधर थे। उन्होंने उपस्थित श्रमणों को अनुयोग की वाचना दी। यह वाचना मथुरा में दी गयी

थी, अत 'माथुरी वाचना' कहलाई। इसका समय वही अर्थात् परिनिर्वाणाब्द ८२७ और ८४० के मध्य होना चाहिये जो आचार्य स्कन्दिल का युगप्रधान काल है।

वालभी वाचना

लगभग माथुरी वाचना के समय मे ही वलभी-सौराष्ट्र में नागार्जुन सूरि के नेतृत्व मे एक मुनि-सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसका उद्देश्य विस्मृत श्रुत को व्यवस्थित करना था। उपस्थित मुनियों की स्मृति के आधार पर श्रुतोद्धार किया गया। इस प्रकार जितना उपलब्ध हो सका, वह सारा वाङ्मय सुव्यवस्थित किया गया। नागार्जुन सूरि ने समागत साधुओं को वाचना दी। आचार्य नागार्जुन सूरि ने इस वाचना की अध्यक्षता या नेतृत्व किया। उनकी इसमे महत्त्वपूर्ण भूमिका थी यह नागार्जुनीय वाचना कहलाती है। वलभी की पहली वाचना के रूप मे इसकी प्रसिद्धि है।

एक ही समय में दो वाचनाएँ ?

कहा जाता है उक्त दोनो वाचनाओं का समय लगभग एक ही है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक ही समय मे दो भिन्न स्थानो पर वाचनाएँ क्यो आयोजित की गयी ? वलभी मे आयोजित वाचना मे जो मुनि एकत्र हुए थे वे मथुरा भी जा सकते थे। इसके कई कारण हो सकते हैं १ उत्तर भारत और पश्चिम भारत के श्रमण-सघ मे स्यात् किन्ही कारणो से मतैक्य नही हो। इसलिए वलभी मे सम्मिलित होने वाले मुनि मथुरा मे सम्मिलित नही हुए हो। उनका उस (मथुरा मे आयोजित) वाचना को समर्थन न रहा हो।

२ मथुरा मे होने वाली वाचना की गतिविधि, कार्यक्रम, पद्धति तथा नेतृत्व आदि से पश्चिम का श्रमण सघ सहमत न रहा हो।

३ माथुरी वाचना के समाप्त हो जाने के पश्चात यह वाचना आयोजित की गयी हो। माथुरी वाचना मे हुआ कार्य पश्चिमी श्रमण सघ को पूर्ण सन्तोषजनक न लगा हो, अत आगम एव तदुप-

जीवी वाङ्मय का उसमे भी उत्कृष्ट मकलन तथा सम्पादन करने का विशेष उत्साह उनमे रहा हो और उन्होने इस वाचना की आयोजना की हो। फलत इसमे कालिक श्रुत के अतिरिक्त अनेक प्रकरण-ग्रन्थ भी सकलित किये गये, विस्तत पाठ वाले स्थलो को अर्थ-सगति पूवक व्यवस्थित किया गया।

इस प्रकार की और भी कल्पनाए की जा सकती है। पर इतना तो मानना होगा कि कोई-न-कोई कारण ऐसा रहा है, जिससे समसामयिकता या समय के थोडे से व्यवधान से ये वाचनाएँ आयोजित की गयी। कहा जाता है, इन वाचनाओ म वाङ्मय लेख-बद्ध भी किया गया।

दोनो वाचनाओ मे सकलित साहित्य मे अनक स्थलो पर पाठान्तर या वाचना भेद भी दृष्टिगत होते है। ग्रन्थ सकलन मे भी कुछ भेद रहा है। ज्योतिष्करण्डक की टीका[1] मे उल्लेख है कि अनुयोगद्वार आदि सूत्रो का सकलन माथुरी वाचना के आधार पर किया गया। ज्योतिष्करण्डक आदि ग्रन्थ वालभी वाचना से गृहीत है। उपयुक्त दोनो वाचनाओ की सम्पन्नता के अनन्तर आचाय स्कन्दिल और नागार्जुन सूरि का परस्पर मिलना नही हो सका। इसलिए दोनो वाचनाओ मे सकलित सूत्रो मे यत्र-तत्र जो पाठ भेद चल रहा था उसका समाधान नही हो पाया और वह एक प्रकार से स्थायी बन गया।

तृतीय वाचना

उपयुक्त दोनो वाचनाओ के लगभग डेढ शताब्दी पश्चात् अर्थात् वीर निर्वाणानन्तर ९८०वें या ९९३वें वष मे वलभी मे फिर उस युग के महान् आचाय और विद्वान् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे तीसरी वाचना आयोजित हुई। इसे वलभी की दूसरी

---

१ पृ ४१

वाचना[1] भी कहा जाता है।

श्रुत स्रोत की सतत प्रवहणशीलता के अवरुद्ध होने की कुछ स्थितिया पैदा हुई, जिससे जैन सघ चिन्तित हुआ। स्थितियो का स्पष्ट रूप क्या था, कुछ नही कहा जा सकता। पर, जो भी हो, इससे यह प्रतीत होता है कि श्रुत के सरक्षण के हेतु जन सघ विशेष चिन्तित तथा प्रयत्नशील था। पिछली डेढ शताब्दी के अन्तगत प्रतिकूल समय तथा परिस्थितियो के कारण श्रुत-वाङ मय का बहुत ह्रास हो चुका होगा। अनेक पाठान्तर तथा वाचना भेद आदि का प्रचलन था ही, अत श्रुत के पुन सकलन और सम्पादन की आवश्यकता अनुभूत किया जाना स्वाभाविक था। उसी का परिणाम यह वाचना थी। पाठान्तरो, वाचना-भेदो का समन्वय पाठ की एकरूपता का निर्धारण, अब तक असकलित सामग्री का सकलन आदि इस वाचना के मुख्य लक्ष्य थे। सूत्र पाठ के स्थिरीकरण या स्थायित्व के लिए यह सब अपेक्षित था। वस्तुत यह बहुत महत्व-पूर्ण वाचना थी।

भारत के अनेक प्रदेशो से आगमज्ञ, स्मरण शक्ति के धनी मुनिवृन्द आये। पिछली माथुरी और वालभी वाचना के पाठान्तरो तथा वाचना भेदो को सामने रखते हुए समन्वयात्मक दृष्टिकोण से

---

१ पिछली दोनो वाचनाओ के साथ जिस प्रकार दुर्भिक्ष की घटना जुडी है इस वाचना के साथ भी वैसा ही है। समाचारी शतक म इस सम्बन्ध म उल्लेख है कि बारह वष के भयावह दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधु दिवगत हो गये। बहुत सा श्रुत विच्छिन्न हो गया तब भव्य लोगो के उपकार तथा श्रुत की अभिव्यक्ति के हेतु श्रीसघ क अनुरोध से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने (६८० वीर निर्वाणान्त) दुष्काल मे जो बच सके उन सब साधुओं को वलभी में बुलाया। विच्छिन्न, अवशिष्ट, न्यून, अधिक खण्डित, अखण्डित आगमालापक उनसे सुन बुद्धिपूवक अनुक्रम से उन्हें सकलित कर पुस्तकारूढ किया।

विचार किया गया। समागत विद्वानो मे जिन-जिन को जैसा पाठ स्मरण था, उससे तुलना की गयी। इस प्रकार बहुलाशतया एक समन्वित पाठ का निर्धारण किया जा सका। प्रयत्न करने पर भी जिन पाठान्तरो का समन्वय नही हो सका, उन्हे टीकाओ, चूर्णियो आदि मे सगहीत किया गया। मूल और टीकाओ मे इस ओर सकेत[1] किया गया है। जो कतिपय प्रकीर्णक केवल एक ही वाचना मे प्राप्त थे, उन्हें ज्यो-का-त्यो रख लिया गया और प्रामाणिक स्वीकार कर लिया गया।

पूर्वोक्त दोनो वाचनाओ मे सकलित वाङ्मय के अतिरिक्त जो प्रकरण ग्रन्थ विद्यमान थे, उन्हे भी सकलित किया गया। यह सारा वाङ्मय लिपिबद्ध किया गया। इस वाचना मे यद्यपि सकलन, सम्पादन आदि सारा काय तुलनात्मक एव समन्वयात्मक शैली से हुआ, पर, यह सब मुख्य आधार माथुरी वाचना को मान कर किया गया। आज अगोपागादि श्रुत-वाङ्मय जो उपलब्ध है, वह देवर्द्धि-गणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न वाचना का सस्करणरूप है।

अग-प्रविष्ट तथा अग-बाह्य

आगम-वाङ्मय को प्रणयन या प्रणेता की दृष्टि से दो भागो मे बाटा जा सकता है १ अग प्रविष्ट तथा २ अग-बाह्य। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य मे अग अर्थात् अग प्रविष्ट तथा अनग अर्थात् अग-बाह्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है 'गणधरकृत व स्थविरकृत, आदेशसृष्ट (अर्थात् तीर्थकर प्ररूपित त्रिपदी जनित) व उन्मुक्त व्याकरण प्रसूत (अर्थात् विश्लेषण प्रतिपादनजनित) ध्रुव नियत व चल—अनियत, इन द्विविध विशेषताओ से युक्त वाङमय अग प्रविष्ट तथा अग बाह्य नाम से अभिहित है।"[2] गणधरकृत, आदेशजनित तथा ध्रुव, ये

१ वाचनातरे तु पुन नागार्जुनीयास्तु एव पठन्ति इत्यादि द्वारा सकेतिक।

२ गणहरथेरकय वा आएसा मुक्कवागरणओ वा। धुवचलविसेसओ वा अगाणगेसु नाणत्त ॥
—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५५०

विशेषण अंग प्रविष्ट से सम्बद्ध है तथा स्थविरकृत, उन्मुक्त व्याकरण प्रसूत और चल, ये विशेषण अंग बाह्य के लिये हैं।

मलधारी हेमचन्द्र द्वारा व्याख्या

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने भाष्य की इस गाथा का विश्लेषण करते हुये लिखा है गौतम आदि गणधरों द्वारा रचित द्वादशांग रूप श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत कहा जाता है तथा भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविर—वृद्ध आचार्यों द्वारा रचित आवश्यक निर्युक्ति आदि श्रुत अंगबाह्य श्रुत कहा जाता है। गणधर द्वारा तीन बार पूछे जाने पर तीर्थंकर द्वारा उद्गीर्ण उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य मूलक त्रिपदी के आधार पर निष्पादित द्वादशांग श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत है तथा अर्थ विश्लेषण या प्रतिपादन के सन्दर्भ में निष्पन्न आवश्यक आदि श्रुत अंगबाह्य श्रुत कहा जाता है। ध्रुव या नियत श्रुत अर्थात् सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में अवश्य होने वाला द्वादशांग रूप श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुत है तथा जो सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में अवश्य हो ही, ऐसा नहीं है वह तन्दुलवैचारिक आदि प्रकरण रूप श्रुत अंगबाह्य श्रुत है।

आ० मलयगिरि की व्याख्या

नन्दी सूत्र की टीका में टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य श्रुत की व्याख्या करते हुये लिखा है "सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि सम्पन्न गणधर रचित मूलभूत सूत्र, जो सर्वथा नियत हैं, ऐसे आचारांगादि अंगप्रविष्ट श्रुत है। उनके अतिरिक्त अन्य श्रुत—स्थविरों द्वारा रचित श्रुत अंगबाह्य श्रुत है।" अंगबाह्य श्रुत दो प्रकार का है (१) सामायिक आदि छः प्रकार का आवश्यक तथा (२) तद्व्यतिरिक्त। आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है (१) कालिक एवं (२) उत्कालिक। जो श्रुत रात तथा दिन के प्रथम प्रहर तथा अंतिम प्रहर में ही पढ़ा जाता है, वह कालिक[1] श्रुत है तथा जो काल वेला को वर्जित कर सब समय पढ़ा

---

१ जिसके लिये काल विशेष में पढ़े जाने की नियामकता नहीं है।

जाता है, वह उत्कालिक श्रुत है। वह दशवैकालिक आदि अनेक प्रकार का है। उनमें से कतिपय ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं

१ कल्प श्रुत, जो स्थविरादि कल्प का प्रतिपादन करता है। वह दो प्रकार का है—एक चुल्लकल्प श्रुत है, जो अल्प ग्रन्थ तथा अल्प अर्थ वाला है। दूसरा महाकल्प श्रुत है, जो महाग्रन्थ और महा अर्थ वाला है। २ प्रज्ञापना, जो जीव आदि पदार्थों की प्ररूपणा करता है। ३ प्रमादाप्रमाद अध्ययन, जो प्रमाद-अप्रमाद के स्वरूप का भेद तथा विपाक का ज्ञापन करता है। ४ नन्दी, ५ अनुयोगद्वार, ६ देवेन्द्रस्तव, ७ तन्दुलवचारिक, ८ चन्द्रावेध्यक, ९ सूर्यप्रज्ञप्ति, १० पोरिसीमण्डल, ११ मण्डल-प्रवेश, १२ विद्याचारण, १३ गणिविद्या, १४ ध्यानविभक्ति, १५ मरण-विभक्ति, १६ आत्म विशुद्धि, १७ वीतराग श्रुत, १८ सलेखना श्रुत १९ विहार-कल्प, २० चरणविधि, २१ आतुर प्रत्याख्यान, २२ महाप्रत्याख्यान आदि। ये उत्कालिक श्रुत के अन्तर्गत हैं।

कालिक श्रुत अनेक प्रकार का है १ उत्तराध्ययन, २ दशा कल्प, ३ व्यवहार, ४ बृहत्कल्प ५ निशीथ, ६ महानिशीथ ७ ऋषिभाषित ग्रन्थ ८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ९ द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, १० चन्द्र प्रज्ञप्ति, ११ क्षुल्लकविमान प्रविभक्ति, १२ महाविमान प्रविभक्ति, १३ अगचूलिका १४ वगचूलिका, १५ विवाह चूलिका, १६ अरुणोपपात, १७ वरुणोपपात १८ गरुडोपपात, १९ धरणोपपात, २० वैश्रमणोपपात, २१ वैलधरोपपात, २२ देवेन्द्रोपपात, २३ उत्थान-श्रुत २४ समुत्थान श्रुत, २५ नाग परिज्ञा २६ निरयावलिया, २७ कल्पिका, २८ कल्पावतसिका २९ पुष्पिका, ३० पुष्पचूला, ३१ वष्णिदशा, इत्यादि चौरासी हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभ के समय में थे। सख्यात हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ बीच के बाईस तीर्थकरों के समय तथा चौदह हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ भगवान् महावीर के समय में थे। जिस तीर्थकर के औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि से युक्त जितने शिष्य थे,

उनके उतने हजार ग्र थ थे। प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही होते थे। यह कालिक, उत्कालिक श्रु त अ गबाह्य कहा जाता है।

अ ग-प्रविष्ट अ ग बाह्य सम्यक्ता

जन दशन का तत्व ज्ञान जहा सूक्ष्मता, गम्भीरता, विशदता आदि के लिए प्रसिद्ध है वहा उदारता के लिए भी उसका विश्व वाङ्मय मे अनुपम स्थान है। वहा किसी वस्तु का महत्व केवल उसके नाम पर आधृत नही है, वह उसके यथावत् प्रयोग तथा फल पर टिका है। अ ग प्रविष्ट और अ ग-बाह य के सदभ मे जिन शास्त्रो की चर्चा की गयी है वे जन परम्परा के मा य ग्रथ है। उनके प्रति जैनो का बडा आदर है। इन ग्रथो की आदेयता और महनीयता इनको ग्रहण करने वाले व्यक्तित्व पर अवस्थित है। यद्यपि ये शास्त्र अपने स्वरूप की दृष्टि से सम्यक् श्रु त है, पर गृहीता की दृष्टि से इन पर इस प्रकार विचार करना होगा—यदि इनका गृहीता सम्यक् दृष्टि सम्पन्न या सम्यक्त्वी है, तो ये शास्त्र उसके लिए सम्यक् श्रु त हैं और यदि इनका गृहीता मिथ्यादृष्टि मम्पृक्त-मिथ्यात्वी है, तो ये मान्य ग्रथ भी उसके लिए मिथ्या-श्रु त की कोटि मे चले जाते हैं। इतना ही नही, जो अजन शास्त्र, जि हे सामा यत असम्यक् (मिथ्या) श्रु त कहा जाता है, यदि सम्यक्त्वी द्वारा परिगृहीत होते ह, तो व उसके लिए सम्यक श्रु त की कोटि मे आ जाते है। इस तथ्य का विशेषावश्यक भाष्यकार ने तथा आवश्यक नियु क्ति के विवरणकार आचाय मलयगिरि न बड स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया है।[1]

---

१ (क) अ गाणग पविटठ सम्मसुय लोइय तु मिच्छुय।
आमज्ज उ सामित्ता लोइय–लोउत्तरे भयणा॥
—विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५३७

(ख) —सम्यकश्रुतम्—पुराणरामायणभारतादि सवमव वा दशन परिग्रहविशेषात् सम्यकश्रुतमितरद् वा, तथाहि—सम्यगदृष्टा सवमपि श्रु त सम्यकश्रु तम्, हेयोपादेयशास्त्राणा हेयोपादेयतया परिज्ञानात् मिथ्यादृष्टो सव मिथ्याश्रुतम् विपययात्।
—आवश्यक नियु क्ति पृ० ४७, प्रका० आगमोदय समिति बम्बई

गृहीता का वैशिष्ट्य

प्रत्येक पदार्थ अस्तित्व-धर्मा है। वह अपने स्वरूप मे अधिष्ठित है, अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। उसके साथ सयोजित होने वाले अच्छे, बुरे विशेषण पर-सापेक्ष हैं। अर्थात् दूसरो—अपने भिन्न-भिन्न प्रयोक्ताओ या गृहीताओ की अपेक्षा से उसमें सम्यक् या असम्यक् व्यवहार होता है। प्रयोक्ता या गहीता द्वारा अपनी आस्था या विश्वास के अनुरूप प्रयोग होना है। यदि प्रयोक्ता का मानस विकृत है, उसकी आस्था विभ्रत है, विचार दूपित है, तो वह अच्छे से अच्छे कथित प्रसग का भी जघन्यतम उपयोग कर सकता है, क्योकि वह उसके यथार्थ स्वरूप का अकन नही कर पाता। जिसे बुरा कहा जाता है, उसके गृहीता का विवेक उद्बुद्ध और आस्था सत्परायण है तो उसके द्वारा उसका जो उपयोग होता है, उससे अच्छाइया ही फलित होती हैं, क्योकि उसकी बुद्धि सद्ग्राहिणी है।

जैन दर्शन का तत्व-चिन्तन इसी आदर्श पर प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि अगप्रविष्ट श्रुत और अगबाह्य श्रुत जैसे आर्ष वाड्मय को मिथ्या श्रुत तक कहने मे हिचकिचाहट नही होती, यदि वे मिथ्यात्वी द्वारा परिगृहीत हैं। वास्तविकता यह है, जिसका दर्शन—विश्वास मिथ्यात्व पर टिका है, वह उसी के अनुरूप उसका उपयोग करेगा अर्थात् उसके द्वारा किया गया उपयोग मिथ्यात्व-सम्वलित होगा। उससे जीवन की पवित्रता नही सधेगी। मिथ्यात्व-ग्रस्त व्यक्ति के कार्यकलाप आत्म-साधक न हो कर अनात्मपरक होते हैं। इसलिये सम्यक श्रुत भी उसके लिये मिथ्या श्रुत है। यही अपेक्षा सम्यक्दृष्टि द्वारा गहीत मिथ्या श्रुत के सम्बन्ध मे होती है। सम्यक्त्वी के कार्य-कलाप सम्यक् या आत्म-साधक, स्वपरिष्कारक तथा बुद्धि-मूलक होते हैं। वह किसी भी शास्त्र का उपयोग अपने हित मे कर लेता है। यह ठीक ही है ऐसे पुरुष के लिये मिथ्या श्रुत भी सम्यक् श्रुत का काम करता है। जैन-तत्व-चिन्तन का यह वह वरेण्य पक्ष है, जो प्रत्येक आत्म-साधक के लिए समाधान-कारक है।

अंग प्रविष्ट तथा अंग बाह्य के रूप में जिन आगम-ग्रन्थों की चर्चा की गयी है, उनमें कुछ उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं, उनमें कुछ निर्युक्तियों को सन्निहित कर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगम-ग्रन्थों को प्रमाण-भूत मानता है। वे अंग, उपांग, छेद तथा मूल आदि के रूप में विभक्त हैं।

पैंतालीस आगम

अ ग-सज्ञा क्यो ?

अथ रूप मे (त्रि पद्यात्मकतया) तीर्थकर प्ररूपित तथा गणधर ग्रथित वाङ्मय अ ग वाङ्मय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे अग नाम से क्यो अभिहित किया गया ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। उत्तर भी स्पष्ट है। श्रु त की पुरुष के रूप मे कल्पना की गयी। जिस प्रकार एक पुरुष के अ ग होते हैं, उसी प्रकार श्रु त पुरुष के अ गो के रूप मे बारह आगमो को स्वीकार किया गया। कहा गया है "श्रु त पुरुष के पादद्वय, जघाद्वय, ऊरुद्वय, गात्र द्वय—देह का अग्रवर्ती तथा पृष्ठवर्ती भाग, बाहुद्वय, ग्रीवा तथा मस्तक (पाद २ + जघा २ + ऊरु २ + गात्राद्ध २ + बाहु २ + ग्रीवा १ + मस्तक १ = १२), ये बारह अ ग हैं। इनमे जो प्रविष्ट है अ गत्वेन अवस्थित हैं, वे आगम श्रु त-पुरुष के अ ग हैं।"[1] बारहवा अ ग दृष्टिवाद विच्छिन्न हो गया। इस समय ग्यारह अ ग प्राप्त हैं।

१ आयाराग (आचाराग)

आचाराग मे श्रमण के आचार का वर्णन किया गया है। यह दो श्रु त स्कन्धो मे विभक्त है। प्रत्येक श्रु त-स्कन्ध का अध्ययनो तथा

---

१ इह पुरुषस्य द्वादश अ गानि भवन्ति। तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जघे, द्वे ऊरुणी द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू ग्रीवा शिरश्च एव श्रुतपुरुषस्यापि परमपुरुषस्या-चारादीनि द्वादशागानि क्रमेण वेदितव्यानि। तथा चोक्तम्—

पायदुग जघोरु गायदुगद्ध तु दो य बाहू य।
गीवा सिर च पुरिसो बारस अ गेसु य पविट्ठो।

श्रुतपुरुषस्यागेषु प्रविष्टमगप्रविष्टम्। अ गभावेन व्यवस्थित श्रुत भेदे।

—अभिधान राजेन्द्र, भाग १, पृ० ३८

प्रत्येक अध्ययन का उद्देशो या चूलिकाओ मे विभाजन है। प्रथम श्रुत-स्कन्ध में नौ अध्ययन एव चोवालीस उद्देश हैं। द्वितीय श्रुत-स्कन्ध में तीन चूलिकाएँ हैं, जो १६ अध्ययनो मे विभाजित हैं। भाषा, रचना शैली, विषय निरूपण आदि की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि प्रथम श्रुत स्कन्ध बहुत प्राचीन है। अधिकाशतया यह गद्य में रचित है। बीच बीच मे यत्र-तत्र पद्यो का भी प्रयोग हुआ है। अर्द्ध-मागधी प्राकृत के भाषात्मक अध्ययन तथा उसके स्वरूप के अवबोध के लिए यह रचना बहुत महत्वपूर्ण है।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा निर्दिष्ट किया गया है, पर, उसका पाठ प्राप्त नही है। इसे व्युच्छिन्न माना जाता है। कहा जाता है इसमे कतिपय चमत्कारी विद्याओ का समावेश था। लिपि-बद्ध हो जाने से अधिकारी, अनधिकारी, सब के लिए वे सुलभ हो जाती हैं। अनधिकारी या अपात्र के पास उनका जाना ठीक न समझ श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आगम-लेखन के समय इस अध्ययन को छोड दिया। यह एक कल्पना है। वस्तुस्थिति क्या रही कुछ कहा नही जा सकता। हो सकता है, बाद मे इस अध्ययन का विच्छेद हो गया हो।

नवम उपधान अध्ययन मे भगवान् महावीर की तपस्या का मार्मिक और रोमाचकारी वर्णन वहा उनके लाढ (बर्दवान जिला), वज्रभूमि (मानभूम और सिंहभूम जिले) तथा शुभ्र भूमि (कोडरमा, हजारीबाग का क्षेत्र) मे विहार-पर्यटन तथा अज्ञ जनो द्वारा किये गये विविध प्रकार क घोर उपसर्ग-कष्ट सहन करने का उल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर के घोर तपस्वी तथा अप्रतिम कष्ट सहिष्णु जीवन का जो लेखा जोखा इस अध्ययन मे मिलता है, वह अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नही है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध रचना कलेवर

द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे श्रमण के लिये निर्देशित व्रतो व तत्सम्बन्धी भावनाओ का स्वरूप, भिक्षु चर्या, आहार पानशुद्धि, शय्या-सस्तरण ग्रहण विहार-चर्या, चातुर्मास्य-प्रवास, भाषा, वस्त्र, पात्र

आदि उपकरण, मल-मूत्र-विसर्जन आदि के सम्बन्ध मे नियम-उपनियम आदि का विवेचन किया गया है। ऐसा माना जाता है कि महापरिज्ञा नामक आचाराग के निशीथाध्ययन की रचना प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु के बीसवें प्राभृत के आधार पर हुई है। आचाराग वास्तव मे द्वादशागात्मक वाड्मय मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। "अ गाण कि सारो ? आयारो"[1] जैसे कथन इसके परिचायक हैं।

दर्शन

आचाराग का आरम्भ दर्शन के मूलभूत प्रश्न से होता है। वह मूलभूत प्रश्न है आत्मा या अस्तित्ववाद। आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे ही अस्तित्ववाद की सक्षिप्त, सुदृढ एव मनोग्राही स्थापना की गई है। पाठक मूलस्पर्शी आनन्द की अनुभूति पा सकें तथा 'तन्दुल न्यायेन' समग्र आचाराग की भाव-भाषा का आभास भी पा सकें, अत वह मौलिक प्रसग यथावत् यहा समुद्धृत किया जा रहा है।

"सुय मे आउस ! ते ण भगवया एवमक्खाय—इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ, तजहा—
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
अहे वा दिसाओ आगओ अहमसि,
अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
अणुदिसाओ वा आगओ अहमसि।"

आयुष्मन् ! मैंने सुना है। भगवान ने यह कहा—इस जगत मे कुछ मनुष्यो को यह सज्ञा नही होती, जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हू,

1 आचाराग नियुक्ति, २९१

अथवा दक्षिण दिशा से आया हू, अथवा पश्चिम दिशा से आया हू अथवा उत्तर दिशा से आया हू अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हू, अथवा अधोदिशा से आया हू अथवा किसी अन्य दिशा से आया हू, अथवा अनुदिशा से आया हू ।

"एवमेगेसि णो णात भवति—अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अह आसी ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?"

इसी प्रकार कुछ मनुष्यो को यह ज्ञात नही होता—मेरी आत्मा पुनर्जन्म नही लेने वाली है, अथवा मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है । मैं पिछले जन्म मे कौन था ? मैं यहा से च्युत होकर अगले जन्म मे क्या होऊगा ?

> "सेज्ज पुण जाणेज्जा—सहसम्मुइयाए, परवागरणेण, अण्णेसि वा अन्तिए सोच्चा, त जहा—
> पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
> दक्खिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
> पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
> उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
> उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
> अहे वा दिसाओ आगओ अहमसि,
> अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमसि,
> अणुदिसाओ वा आगओ अहमसि ।"

कोई मनुष्य १ पूर्व जन्म की स्मृति से, २ पर (प्रत्यक्ष ज्ञानी) के निरूपण से अथवा ३ अन्य (प्रत्यक्ष ज्ञानी के द्वारा श्रुत व्यक्ति) के पास सुनकर यह जान लेता है जैसे मैं पूर्व दिशा से आया हू, अथवा दक्षिण दिशा से आया हू, अथवा पश्चिम दिशा से आया हू अथवा उत्तर दिशा से आया हू, अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हू, अथवा अधो दिशा से आया हू, अथवा किसी अन्य दिशा से आया हू, अथवा अनुदिशा से आया हू ।

एवमेगेसि ज णात भवइ—अत्थि मे आया ओववाइए । जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसचरइ सोह ।"

इसी प्रकार कुछ मनुष्यो को यह ज्ञात होता है—मेरी ग्रात्मा पुनजन्म लेने वाली है, जो इन दिशाग्रा ग्रौर ग्रनुदिशाग्रो मे ग्रनु सचरण करती है, जो सब दिशाग्रो ग्रौर सब ग्रनुदिशाग्रो से ग्राकर ग्रनुसचरण करता है, वह मैं हू।

"से ग्रायावाई, लोगवाई, कम्मवाई, किरियावाई।"

जो ग्रनुसचरण को जान लेता है, वही ग्रात्मवादी, लोकवादी, कमवादी ग्रौर क्रियावादी है।

भगवान् महावीर का ग्रस्तित्ववाद मनुष्य व ग्रन्य जगम प्राणिया तक सीमित नही था। उसमे स्थावर प्राणियो के ग्रस्तित्व को भी उतनी ही दृढता से स्वीकारा गया है जितना जगम प्राणियो के ग्रस्तित्व को। वहा पृथ्वी, ग्रप्, ग्रग्नि, वायु ग्रौर वनस्पति के जीवन की भी मुक्त चर्चा है, जो लगभग जैन दशन की ग्रपनी मौलिक मान्यता ही मानी जा सकती है। इसी ग्राचाराग के वनस्पति निरूपण में कहा गया है

"से बेमि—ग्रप्पेगे ग्र धमब्भे, ग्रप्पेगे ग्र धमच्छे।"

वनस्पतिकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय विकल, ग्रध,बधिर, मूक, पगु ग्रौर ग्रवयव हीन मनुष्य की भाति ग्रव्यक्त चेतना वाला होता है।

शस्त्र से भेदन छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।

"ग्रप्पेगे पायमब्भे, ग्रप्पेगे पायमच्छे।"

इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के पैर ग्रादि का शस्त्र से भेदन छेदन करने पर उसे प्रकट करने मे ग्रक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पति को होती है।

"ग्रप्पेगे सपमारए, ग्रप्पेगे उद्दवए।"

मनुष्य को मूच्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे जो कष्टानुभूति होती है,वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।

"से बेमि—इमपि जाइधम्मय, एयपि जाइधम्मय ।
इमपि बुडिढधम्मय, एयपि बुडिढधम्मय ।
इमपि चित्तमतय, एयपि चित्तमतय ।
इमपि छिन्न मिलाति, एयपि छिन्न मिलाति ।
इमपि आहारग, एयपि आहारग ।
इमपि अणिच्चय, एयपि अणिच्चय ।
इमपि असासय, एयपि असासय ।
इमपि चयावचइय, एयपि चयावचइय ।
इमपि विपरिणामधम्मय, एयपि विपरिणामधम्मय ।"

मैं कहता हू—मनुष्य भी जन्मता है, वनस्पति भी जन्मती है। मनुष्य भी बढता है, वनस्पति भी बढती है। मनुष्य भी चैतन्ययुक्त है वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है। मनुष्य भी छिन्न होने पर म्लान होता है, वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है। मनुष्य भी आहार करता है, वनस्पति भी आहार करती है। मनुष्य भी अनित्य है, वनस्पति भी अनित्य है। मनुष्य भी अशाश्वत है वनस्पति भी अशाश्वत है। मनुष्य भी उपचित और अपचित होता है वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है। मनुष्य भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है, वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है।

व्याख्या-साहित्य

आचाराग पर आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्युक्ति श्री जिनदास गणी द्वारा चूर्णि, श्री शीलाकाचार्य द्वारा टीका तथा श्री जिनहससूरि द्वारा दीपिका की रचना की गयी।

जैन वाङ्मय के प्रख्यात अध्येता डा० हर्मन जकोबी ने इसका अग्रेजी मे अनुवाद किया तथा इसकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखी। प्रो० एफ० मक्समुलर द्वारा सम्पादित 'Sacred Books of the East' नामक ग्रन्थमाला के अन्तगत २२ वे भाग मे उसका आक्सफोर्ड से प्रकाशन हुआ। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० वाल्टर शूब्रिंग ने सम्पादन किया तथा सन् १९१० मे लिप्जग से इसका प्रकाशन किया। आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति

तथा आचार्य शीलांक रचित टीका के साथ सन् १६३५ मे आगमोदय समिति, बम्बई द्वारा इसका प्रकाशन हुआ।

२ सूयगडग (सूत्रकृताग)

सूत्रकृताग के नाम

सूत्रकृताग के लिए सूयगड, सुत्तकड तथा सूयागड, इन तीन शब्दो का प्रयोग हुआ है। सूयगड या सुत्तकड का सस्कृत-रूप सूत्रकृत है। इसकी शाब्दिक व्याख्या इस प्रकार है —अर्थरूपतया तीर्थङ्करो से सूत्र का उद्भव हुआ। उससे गणधरो द्वारा किया गया या निबद्ध किया गया ग्रन्थ। इस प्रकार सूत्रकृत शब्द का फलित होता है। अथवा सूत्र के अनुसार जिसमे तत्त्वावबोध कराया गया हो, वह सूत्रकृत है। सूयागड का सस्कृत रूप सूत्राकृत है। इसका अर्थ है—स्व और पर समय—सिद्धान्त का जिसमे सूचन किया गया हो,वह सूचाकृत या सूयागड है।[1]

सूत्र का अर्थ भगवद्भाषित और कृत का अर्थ उसके आधार पर गणधरो द्वारा किया गया या रचा गया, इस परिधि मे तो समस्त द्वादशागी ही समाहित हो जाती है, अत सूत्रकृताग की ही ऐसी कोई विशेषता नही है। स्व—अपने, पर—दूसरो के समय—सिद्धान्तो या तात्त्विक मान्यताओ के विवेचन का जो उल्लेख किया गया है, वह महत्वपूर्ण है। वैसा विवेचन इसी आगम मे है, अन्य किसी मे नही।

सूत्रकृताग का स्वरूप कलेवर

दो श्रुत-स्कन्धो मे विभक्त है। प्रथम श्रुत-स्कन्ध मे सोलह तथा दूसरे मे सात अध्ययन है। पहला श्रुत-स्कन्ध प्राय पद्यो मे

---

१ सूयगड अगाण, बितिय तस्स य इमाणि नामाणि।
सूयगड सुत्तकड, सूयागड चेव गोणाइ ॥२॥

सूत्रकृतमिति—एतदगाना द्वितीय तस्य चामून्येकार्थिकानि, तद्यथा—सूत्रमुत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्य तत कृत ग्रन्थरचनया गणधरैरिति, तथा सूत्रकृतमिति सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोध क्रियतेऽस्मिन्निति, तथा सूचाकृतमिति स्वपरसमयार्थसूचन सूचा साऽस्मिन् कृतति। एतानि चास्य गुण निष्पन्नानि नामानीति।

—अभिधान राजेन्द्र सप्तम भाग, पृ० १०२७

है। उसके केवल एक अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुत-स्कन्ध मे गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इस आगम में गाथा छन्द के अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, वैतालिक, अनुष्टुप आदि अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है।

विभिन्न वादों का उल्लेख

पंचभूतवाद एकात्मवाद—अद्वैतवाद या एकात्मवाद देहात्मवाद, अज्ञानवाद, अक्रियावाद नियतिवाद अकृतत्ववाद मदवाद पंचस्कन्धवाद तथा धातुवाद आदि का प्रथम स्कन्ध मे प्रस्तवण किया गया है। तत्पक्षस्थापन और निरसन का एक सांकेतिक-सा, अस्पष्ट सा क्रम रहा है। इससे यह बहुत स्पष्ट नहीं होता कि उन दिनों अमुक अमुक वाद किस प्रकार की दार्शनिक परम्पराए लिए हुए थे। हो सकता है इन वादों का तब तक किसी व्यवस्थित तथा परिपूर्ण दर्शन के रूप मे विकास न हो पाया हो। इन वादों पर अवस्थित दार्शनिक परम्पराओ (Schools of Philosophy) के ये प्रारम्भिक रूप रहे हों। श्रमणों द्वारा भिक्षाचार मे सतर्कता, परिषहों के प्रति सहनशीलता नरकों के कष्ट साधुओं के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु तथा निर्ग्रन्थ जैसे शब्दों की व्याख्या, उदाहरणों तथा रूपकों द्वारा अच्छी तरह की गई है। उल्लिखित मतवादों की चर्चा सम्बन्धित व्याख्या ग्रन्थों मे विस्तार से भी मिलती है।

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध मे पर-मतों का खण्डन किया गया है। विशेषत वहां जीव व शरीर के एकत्व, ईश्वरकर्तृत्व नियतिवाद आदि की चर्चा है। प्रस्तुत श्रुत स्कन्ध मे आहार-दोष, भिक्षा-दोष आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। प्रसंगवश योग उत्पाद, स्वप्न स्वर व्यंजन, स्त्री लक्षण आदि विषयों का भी निरूपण हुआ है। अंतिम अध्ययन का नाम नालंदीय है। इसमें नालंदा में हुये गौतम गणधर और पार्श्वापत्यिक उदक पढाल पुत्त का वार्तालाप है। अन्त मे उदक पढाल पुत्त द्वारा चतुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत स्वीकार करने का वर्णन है।

प्राचीन मतों, वादों और दृष्टिकोणों के अध्ययन के लिए तो यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है ही, भाषा की दृष्टि से भी विशेष प्राचीन

सिद्ध होता है। भाषा-वैज्ञानिक भी इसमें अध्ययन की प्रचुर सामग्री पाते हैं।

दर्शन और आचार

सूत्रकृतांग का अद्दइज्जणाम (आर्द्रकीयाख्य) अध्ययन उस समय के विभिन्न मतवादों का संकेत देता है। सुंदर घटना प्रसंग के साथ-साथ वहां अनेक दर्शन-पक्षों के आचार का सहजतया उद्घाटन हो जाता है। आर्द्रककुमार आर्द्रकपुर के राजकुमार थे। उनके पिता ने एक बार अपने मित्र राजा श्रेणिक के लिए बहुमूल्य उपहार भेजे। उस समय आर्द्रककुमार ने भी अभयकुमार के लिए उपहार भेजे। राजगृह से भी उनके बदले में उपहार आये। आर्द्रककुमार के लिए अभयकुमार की ओर से जिन मूर्ति के रूप में उपहार आया। उसे पाकर आर्द्रककुमार प्रतिबुद्ध हुये। जाति-स्मरण ज्ञान के आधार से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और वहां से भगवान् महावीर की ओर विहार किया। मार्ग में एक-एक कर विभिन्न मतों के अनुयायी मिले। उन्होंने आर्द्रककुमार से धर्म चर्चाएं की। आर्द्रककुमार मुनि ने भगवान् महावीर के मत का समर्थन करते हुये सभी मतवादों का खण्डन किया। वह मर्म चर्चा प्रसंग इस प्रकार है।

गोशालक—आर्द्रक ! मैं तुम्हें महावीर के विगत जीवन की कथा सुनाता हूं। वह पहले एकांत विहारी श्रमण था। अब वह भिक्षु संघ के साथ धर्मोपदेश करने चला है। इस प्रकार उस अस्थिरात्मा ने अपनी आजीविका चलाने का ढोंग रचा है। उनके वर्तमान और विगत के आचरण में स्पष्ट विरोध है।

आर्द्रक मुनि—भगवान् महावीर का एकान्त-भाव अतीत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालों में स्थिर रहने वाला है। राग-द्वेष से रहित वे सहस्रों के बीच रहकर भी एकान्त-साधना कर रहे हैं। जितेंद्रिय साधु वाणी के गुण दोषों को समझता हुआ उपदेश दे, इसमें किंचित् भी दोष नहीं है। जो महाव्रत, अणुव्रत, आस्रव संवर आदि श्रमण-धर्मों को जानकर, विरति को अपनाकर कर्म-बन्धन से दूर रहता है, उसे मैं श्रमण मानता हूं।

गोशालक—हमारे सिद्धात के अनुसार कच्चा पानी पीने मे, जीवादि धान्य के खाने मे, उद्दिष्ट आहार के ग्रहण मे तथा स्त्री-सभोग मे एकान्त विहारी तपस्वी को कोई पाप नही लगता।

आर्द्र क मुनि—यदि ऐसा है, तो सभी गृहस्थी श्रमण ही हैं, क्योकि वे ये सभी कार्य करते हैं। कच्चा पानी पीने वाले, बीज धान्य आदि खाने वाले तो केवल पेट भराई के लिए ही भिक्षु बने हैं। ससार का त्याग करके भी ये मोक्ष को पा सकेंगे, ऐसा मैं नही मानता।

गोशालक—ऐसा कहकर तो तुम सभी मतो का तिरस्कार कर रहे हो ?

आर्द्र क मुनि—दूसरे मत वाले अपने मत का बखान करते हैं और दूसरो की निन्दा। वे कहते है—तत्त्व हमे ही मिला है, दूसरो को नही। मैं तो मिथ्या मा यताओ का तिरस्कार करता हू, किसी व्यक्ति विशेष का नही। जो सयमी किसी स्थावर प्राणी को कष्ट देना नही चाहते, वे किसी का तिरस्कार कसे कर सकते हैं ?

गोशालक - तुम्हारा श्रमण उद्यान-शालाओ मे, धमशालाओ मे इसलिए नही ठहरता कि वहा अनेक तार्किक पण्डित, अनेक विज्ञ भिक्षु ठहरते हैं। उसे डर है कि वे मुझे कुछ पूछ बैठें और मैं उनका उत्तर न दे सकू।

आर्द्र क मुनि - भगवान् महावीर बिना प्रयोजन के कोई काय नही करते तथा वे बालक की तरह बिना विचारे भी कोई काम नहीं करते। वे राज-भय से भी धर्मोपदेशन ही करत, फिर दूसरे भय की तो बात ही क्या? वे प्रश्नो का उत्तर देते हैं और नही भी देते। वे अपनी सिद्धि के लिए तथा आय लोगो के उद्धार के लिए उपदेश करते हैं। वे सवत्र सुनने वालो के पास जाकर अथवा न जाकर धम का उपदेश करते हैं, कि तु, अनाय लोग दशन मे भ्रष्ट होते हैं, इसलिए भगवान उनके पास नही जाते।

गोशालक—जसे लाभार्थी वणिक् क्रय विक्रय की वस्तु को लेकर महाजनो से सम्पर्क करता है, मेरी दृष्टि से तुम्हारा महावीर भी लाभार्थी वणिक है।

आद्रक मुनि—महावीर नवीन कर्म नही करते। पुराने कर्मों का नाश करते है। वे मोक्ष का उदय चाहते है, इस अर्थ मे वे लाभार्थी है यह मैं मानता हू। वणिक तो हिंसा, असत्य अब्रह्म आदि अनेक पाप कर्म करने वाले हैं और उनका लाभ भी चार गति मे भ्रमण रूप है। भगवान् महावीर जो लाभ अर्जित कर रहे हैं, उसकी आदि है पर अन्त नही है। वे पूर्ण अहिंसक परोपकारक और धर्म-स्थित है। उनकी तुलना तुम आत्म-अहित करने वाले वणिक् के साथ कर रहे हो, यह तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है।

बौद्ध भिक्षु

बौद्ध भिक्षु—कोई पुरुष खली के पिण्ड को मनुष्य मानकर पकाये अथवा तुम्बे को बालक मानकर पकाये, तो वह हमारे मत के अनुसार पुरुष और बालक के वध का ही पाप करता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति पुरुष व बालक को खली व तुम्बा समझ कर भेदित करता है व पकाता है, तो वह पुरुष व बालक के वध करने का पाप उपार्जित नही करता। साथ साथ इतना और कि हमारे मत मे वह पक्व मास पवित्र और बुद्धो के पारणे के योग्य है।

आद्रककुमार। हमारे मत मे यह भी माना गया है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन दो सहस्र स्नातक (बोधि सत्व) भिक्षुओ को भोजन कराता है, वह देवगति मे आरोग्य नामक सर्वोत्तम देव होता है।

आद्रककुमार—इस प्रकार प्राण-भूत की हिंसा करना और उसमे पाप का अभाव कहना, सयमी पुरुष के लिए उचित नही है। इस प्रकार का जो उपदेश देते हैं और जो सुनते हैं, वे दोनो ही प्रकार के लोग अज्ञान और अकल्याण को प्राप्त करने वाले हैं। जिसे प्रमाद-रहित होकर सयम और अहिंसा का पालन करना ह और जो स्थावर व जगम प्राणियो के स्वरूप को समझता है, क्या वह कभी ऐसी बात कह सकता है? जो तुम कहते हो? बालक को तुम्बा समझकर और तुम्बे को बालक समझकर पका ले, क्या यह कोई होने वाली बात है? जो ऐसा कहते है, वे असत्य भाषी और अनार्य हैं।

मन मे तो बालक को बालक समझना और ऊपर से उसे तुम्बा

कहना, क्या यह सयमी पुरुष के नक्षण है ? स्थूल ग्रौर पुष्ट भेड को मारकर, उसे अच्छी तरह स काटकर उसके मास मे नमक डालकर तेल मे तल कर पिप्पली आदि द्रव्यो से बघार कर तुम्हारे लिए तयार करते है, उस मास को तुम खाते हो और यह कहते हो कि हम पाप नही लगता, यह सब तुम्हार दुष्ट स्वभाव तथा रस लपटता का सूचक ह। इस प्रकार का मास कोई अनजान मे भी खाता ह, वह पाप करता है, फिर यह कहकर कि हम जान कर नही खाते इसलिए हमे दोष नही है, सरासर भूठ नही तो क्या ह ?

प्राणि मात्र क प्रति दया भाव रखने वाले सावद्य दोषो का वर्जन करने वाले ज्ञातपुत्रीय भिक्षु दोष की आशका से उद्दिष्ट भोजन का ही विवजन करते हैं। जो स्थावर और जगम प्राणियो को थोडी भी पीडा हो, एसा पवतन नही करते ह व एसा प्रमाद नही कर सकते। सयमी पुरुष का धम पालन इतना सूक्ष्म है।

जो व्यक्ति प्रतिदिन दो दो सहस्र स्नातक भिक्षुओ को भोजन खिलाता है, वह तो पूर्ण असयमी है। लोही से सने हाथ वाला व्यक्ति इस लोक मे भी तिरस्कार का पात्र है, उसके परलोक मे उत्तम गति की तो बात ही कहा ?

जिस वचन से पाप का उत्तेजन मिलता है, वह वचन कभी नही बोलना चाहिए। तथाप्रकार की तत्व-शून्य वाणी गुणो से रहित है। दीक्षित कहलाने वाले भिक्षुओ को तो वह कभी बोलनी ही नही चाहिए।

हे भिक्षुओ ! तुमने ही पदाथ का ज्ञान प्राप्त किया है और जीवो के शुभाशुभ कम फल को समझा है। सम्भवत इसी विज्ञान से तुम्हारा यश पूव व पश्चिम समुद्र तक फैला है और तुमने ही समस्त लोक को हस्तगत पदाथ की तरह देखा ह ?

वेदवादी ब्राह्मण

वेदवादी—जो प्रतिदिन दो सहस्र स्नातक ब्राह्मणो को भोजन खिलाता ह, वह पुण्य की राशि एकत्रित कर देव गति मे उत्पन्न होता ह ऐसा हमारा वद वाक्य है।

आद्र क मुनि—मार्जार की तरह घर घर भटकने वाले दो हजार स्नातक ा को जो खिलाता है,मासाहारी पक्षिया से परिपूर्ण तथा तीव्र वेदनामय नरक मे जाता है। दया प्रधान धम को निंदा और हिंसा प्रधान धम की प्रशसा करने वाला मनुष्य एक भी शील रहित ब्राह्मण को खिलाता है, तो वह अन्धकारयुक्त नरक मे भटकता है। उसे देव-गति कहा ह ?

आत्माद्वैतवादी

आत्माद्वैतवादी—आद्र क मुनि ! अपन दोना का धम समान है। वह भूत म भी था और भविष्य मे भी रहेगा। अपने दोना धर्मों मे आचार प्रधान शील तथा ज्ञान को महत्व दिया गया है। पुनजन्म की मान्यता मे भी कोई भेद नही है। किन्तु हम एक अव्यक्त, लोकव्यापी सनातन अक्षय और अव्यय आत्मा को मानत ह। वह प्राणिमात्र म व्याप्त है, जसे—चन्द्र तारिकाओं मे।

आद्र क मुनि—यदि ऐसा ही ह ता फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य व दास, इसी प्रकार कीडे, पक्षी, सर्प, मनुष्य व देव आदि भेद ही नही रहगे और वे पृथक पृथक सुख-दुःख भोगते हुये इस ससार में भटकेंगे भी क्यो ?

परिपूर्ण कैवल्य से लोक को समझे बिना जो दूसरो को धर्मोपदेश करते हैं वे अपना और दूसरा का नाश करते हैं। परिपूर्ण कैवल्य से लोक स्वरूप को समझकर तथा पूर्ण ज्ञान मे समाधियुक्त बन कर जो धर्मोपदेश करते हैं, वे स्वय तर जाते हैं और दूसरों को भी तार देते हैं।

इस प्रकार निरस्कार योग्य मान कर आत्माद्वैतवादियो को और सम्पूर्ण ज्ञान,दर्शन,चारित्र युक्त जिना को अपनी समझ मे समान बतला कर ह आयुष्मन् ! तू अपनी ही विपरीतता प्रकट करता ह।

हस्ती तापस

हस्ती तापस—हम एक वष म एक बडे हाथी को मारकर अपनी आजीविका चलाते हैं। ऐसा हम अन्य समस्त प्राणिया के प्रति अनुकम्पा बुद्धि रखते हुये करते ह।

आर्द्र क मुनि—एक वध मे एक ही प्राणी मारते हो और फिर चाहे अन्य जीवो को नही भी मारते किन्तु इतने भर से तुम दोष मुक्त नही हो जाते। अपने निमित्त एक ही प्राणी का वध करने वाले तुम्हारे और गृहस्थो मे थोडा ही अन्तर है। तुम्हारे जसे आत्म अहित करने वाले मनुष्य कभी केवल ज्ञानी नही हो सकते।

तथारूप स्वकल्पित धारणाओ के अनुसरण करने की अपेक्षा जिस मनुष्य ने ज्ञानी के आज्ञानुसार मोक्ष माग मे मन वचन, काया से अपने आपको स्थित किया है तथा जिसने दोषो से अपनी आत्मा का सरक्षण किया है और इस ससार समुद्र को तरने के साधन प्राप्त किये है वही पुरुष दूसरो को धर्मोपदेश दे।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य भद्रबाहु ने सूत्रकृताग पर नियु क्ति की रचना की। आचार्य शीलाक ने वाहरि गणी के सहयोग से टीका लिखी। चूर्णि भी लिखी गयी। श्री हर्षकुल और श्री साधुरग द्वारा दीपिकाओ की रचना हुयी। डा० हर्मन जेकोबी ने अग्रेजी मे अनुवाद किया जो Sacred Books of the East के पतालीसवें भाग मे आक्सफोड से प्रकाशित हुआ।

३ ठाणाग (स्थानाग)

दश अध्ययनो मे यह श्रुताग विभाजित है। इसमे ७८३ सूत्र हैं। उपयु क्त दो श्रुतागो से इसकी रचना भिन्न कोटि की है। इसके प्रत्येक अध्ययन मे, अध्ययन की सख्या के अनुसार वस्तु सख्यायें गिनाते हुये वर्णन किया गया है। एक लोक, एक अलोक, एक धर्म, एक अधर्म, एक दर्शन, एक चरित्र, एक समय आदि। इसी प्रकार दूसरे अध्ययन मे उन वस्तुओ की गणना और वर्णन आया है, जो दो दो हैं—जसे दो क्रियायें आदि। इसी क्रम मे दशवें अध्ययन तक यह वस्तु-भेद और वर्णन दश की सख्या तक पहुच गया है। इस कोटि की वर्णन-पद्धति की दृष्टि से यह श्रुताग पालि बौद्ध ग्रन्थ अगुत्तर निकाय से तुलनीय है।

नाना प्रकार के वस्तु निर्देश अपनी-अपनी दृष्टि से बडे महत्व के हैं। उदाहरणार्थ, ऋक, यजुष् और साम, ये तीन वेद—बतलाये

गये है। धम-कथा, अर्थ-कथा और काम-कथा, तीन प्रकार की कथाओ का उल्लेख ह। वृक्ष तीन प्रकार के बतलाये गये हैं। भगवान् महावीर के तीथ धर्म सघ मे हुये सात निह्नवो (धमशासन से विमुख और अपलापक विपरीत प्ररूपणा करने वालो) की भी चर्चा आई ह। भगवान् महावीर के तीर्थ मे (जिन नौ पुरुषो ने तीर्थकर-गोत्र बाधा, यथाप्रसग उनका भी उल्लेख है। इस प्रकार सख्यानुक्रम के आधार पर इसमे विभिन्न विपयो का वर्णन प्राप्त होता है जो अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण हैं।

दशन-पक्ष

एक प्रकार से आरम्भ कर दश प्रकार तक के मूत-अमत भावो का जहा दिग्दर्शन है, वहा दशन का भी कौन-सा विपय अछूता रह सकता है ? मूल मे जहा सकेत है, व्याख्या ग्रथो मे उन्ही सकेत-सूत्रो पर विस्तृत चर्चा भी ह। ठाणाग मे हेतुवाद का भी निरूपण है। वह न्याय विपय का सूचन मात्र ह। वहा हेतु, प्रमाण और हेत्वाभासो को एक ही सज्ञा से अभिहित किया गया है। व्याख्याकारो ने उन पर यथावस्थित प्रकाश डाला है। स्थानाग का प्रतिपादन निम्नोक्त क्रम से है -

हेउ चउव्विहे पण्णत्ते, तजहा—जावए, थावए, वसए, लूसए।

हेतु चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—यापक स्थापक, व्यसक और लूपक।

अहवा हेउ चउव्विहे पण्णत्ते तजहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।

अथवा हेतु चार प्रकार के कहे गये है, जसे—प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम।

अहवा हेउ चउव्विहे पण्णत्ते, तजहा—अत्थि तं अत्थि, अत्थि ते णत्थि, णत्थित्त अत्थि णत्थित्त णत्थि।

तात्पय यह है तो वह भी है। यह है, तो वह नही है। यह नही, तो वह है। यह नही, तो वह भी नही है।

प्रमाण एव हेतु तत्त्व से परिचित विद्वानो के लिए उक्त तीनो ही प्रकार के हेतुवाद सहज-गम्य हैं। उदाहरण मात्र के लिए केवल प्रथम चार भेदो को सक्षेप मे प्रस्तुत किया जा रहा है, जोकि कथा-क्रम के साथ बहुत ही सरस एव सुगम बन गये हैं।

यापक हेतु—जिस हेतु से वादी काल-यापन करता है। विशेषणो व वक्रोक्तियो से सामान्य बात को भी लम्बा कर ऐसा किया जाता है। वस्तु स्थिति को समझने मे तथा उत्तरित करने मे प्रतिवादी को भी समय लगता है। इस तरह व्यय या कालयापन करके वादी अपना फलित सिद्ध करता है। इस हेतु पर कथा तक है—किसी कुलटा स्त्री ने अपने भद्र पति से कहा, आज कल ऊट के 'मीगणे' बाजार मे बहुत महगे हो गये हैं। एक एक मीगणा एक-एक रुपयक मे बिकना है। तुम मीगणे लेकर बाजार जाओ और यथा-भाव बेचकर द्रव्याजन करो। पति बाजार गया। मीगणो के भाव पूछता रहा। कुलटा पत्नी ने अपना उतना समय अपने अन्य प्रमी के साथ बिताया।

स्थापक हेतु—जो हेतु अपने साध्य की अविलम्ब स्थापना कर देता है वह स्थापक हेतु है। जैसे—'वह्निमान पवतोऽय धूमत्वात्" यह पवत अग्निमान् है, क्योकि धु आ दीख रहा है। साध्य की अविलम्ब स्थापना के लिए उदाहरण दिया गया है— कोई धूत परिव्राजक प्रत्येक गाव मे जाकर कहता है, पृथ्वी के मध्य भाग मे दिया गया दान बहुत ही फलवान् होता है। तुम्हारा गाव ही मध्य भाग है। यह तथ्य मैं ही जानता हू अन्य कोई नही। किसी अन्य भद्र परिव्राजक ने इस माया जाल को तोडने के लिए ग्रामवासियो के बीच यह कहना प्रारम्भ किया—परिव्राजक ! पृथ्वी का बीच तो कोई एक ही स्थान हो सकता है। तुम तो सभी गावा मे यही कहते आ रहे हो। भद्र परिव्राजक के इतना कहते ही सारा माया जाल टूट गया। पृथ्वी का केन्द्र तो कोई एक ही स्थान हो सकता है, तत्काल यह सब के समझ मे आ गया। हेतु साध्य को सिद्धि मे सफल हो गया।।

व्यसक हेतु—प्रतिपक्षी को व्यामुग्ध कर देने वाला हेतु व्यसक हेतु है। जैसे—"अस्ति जीव, अस्ति घट" की स्थापना पर कोई कह

दे, अस्तित्व धर्म दोनो मे समान है, अत जीव और घट एक ही हो गये अर्थात् जीव भी चेतन, घट भी चेतन । तथारूप व्यामुग्धता व्यसक हेतु है । उदाहरण मे बताया गया है—एक गाडीवान अरण्य से जा रहा था । मार्ग मे उसने एक तित्तिरी पकडकर गाडी मे रख ली । किसी नगर मे पहुचा । एक धूर्त ने कहा—शकट-तित्तिरी का क्या मोल है ? गाडीवान् ने समझा, गाडी मे स्थित तित्तिरी के लिए पूछ रहा है । उसने कहा—इसका मोल तर्पणा-लोडिका अर्थात् जल मिश्रित सक्तु है । धूर्त शकट-सहित तित्तिरी लेकर चलने लगा । गाडीवान् झगडने लगा, तो धूर्त ने कहा—मैंने तो शकट-तित्तिरी अर्थात् शकट सहित तित्तिरी का मोल ही पूछा था । शाकटिक बेचारा व्यामुग्ध रहा । धूर्त शकट और तित्तिरी लेकर चलते बना । यह है, व्यसक हेतु ।

लूषक हेतु—धूर्त द्वारा आपादित अनिष्ट का निराकरण करने वाला लूषक हेतु है । जसे—छला गया शाकटिक किसी अन्य धूर्त से वितर्क सीख कर शकट अपहर्ता के घर जाता है और कहता है—शकट-तित्तिरी का मेरा मोल तर्पण लोडिका तो दो । धूर्त ने अपनी पत्नी से कहा—सक्तु घोल कर इसे दे दो । पत्नी घोलने बैठी तो शाकटिक पत्नी को ही बाह पकडकर ले जाने लगा । धूर्त ने कहा—यह क्या कर रहे हो ? शाकटिक ने कहा—तर्पणा-लोडिका को ही तो ले जा रहा हू । यह तो मेरे मोल मे आई है, अत मेरी पत्नी है । सक्त घोलती हुई स्त्री भी तो तर्पणा-लोडिका होती है । बात दोनो ओर से टकरा गई तो धूर्त ने कहा—शाकटिक ! तुम तुम्हारी शकट-तित्तिरी ले जाओ । मेरी पत्नी मेरे पास रहने दो । इस प्रकार व्यंसक हेतु का निराकरण ही लूषक हेतु माना गया है ।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य अभयदेवसूरि (सन् १०६३) ने स्थानाग पर टीका लिखी है । आचाराग,सूत्रकृताग तथा दृष्टिवाद(जो उपलब्ध नही हैं) के अतिरिक्त शेष नौ अगो पर उनकी टीकायें है । वे नवागी टीका-कार कहलाते हैं । आचार्य अभयदेव ने टीकाकार के उत्तरदायित्व-

निर्वाह की कठिनाइयो का उसमे जो वर्णन किया है, उससे उस समय की शास्त्रावस्थिति ज्ञात होती है। वे लिखते हैं "शास्त्राध्येत्-सम्प्रदायो[१] के नष्ट हो जाने, सद ऊह, सद् विवेक, सद्वितर्कणा के वियोग, सब विषयो के विवेचनपरक शास्त्रो की अस्वायत्तता स्मरण-शक्ति के अभाव वाचनाओ के अनेकत्व, पुस्तको के अशुद्ध पाठ, सूत्रो की अति गम्भीरता तथा कही कही मतभेद आदि कारणो से त्रुटिया रह जाना सम्भावित है। विवेकशील व्यक्तियो ने शास्त्रो का जो अर्थ स्वीकार किया है, वही हमारे लिए ग्राह्य है, दूसरा नही।[२]

आचार्य अभयदेव ने आगे उल्लेख किया है कि इन सब कठिनाइयो के होते हुए भी श्री द्रोणाचार्य आदि के सहयोग से उन्होने इसकी टीका की रचना की है। आचार्य नागर्षि द्वारा स्थानाग पर दीपिका की रचना की गयी।

४ समवायाग

समवाय[३] का अर्थ समूह या समुदाय होता है। इसका वर्णन-क्रम स्थानाग जैसा है। स्थानाग मे एक से दस तक संख्यायें पहुँचती हैं, जबकि इसमें वे संख्यायें एक से आरम्भ होकर कोटानुकोटि (कोडाकोडी) तक जाती हैं। समवायाग मे बारह अगो तथा उनके विषयो का उल्लेख है। संख्या क्रमिक वर्णन के अन्तर्गत यथा-प्रसग

---

१ सम्प्रदायो गुरुक्रम ।

२ सत्सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगत ।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्चमे ॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धित ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यात् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥
क्षूणानि सम्भवन्तीह केवल सुविवेकिभि ।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थ सोऽस्मद्ग्राह्यो न चेतर ॥—४९९ पृ०

३ दुवालसगे गणिपिडिए पन्नत्ते । त जहा—आयारे, सूयगडे ठाणे, समवाए विवाहपन्नत्ती णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, विवागसुए दिट्ठिवाए। से किं त आयारे ? आयारेण समणाण निग्गथाण आहिज्जइ ॥ —समवायाग सूत्र, द्वादशागाधिकार, पृ० २३१–३२

आचाराग के प्रथम श्रुत स्कन्ध के नौ अध्ययनो, सूत्रकृताग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के सोलह अध्ययनो, णायाधम्मकहाओ के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के उन्नीस अध्ययनो, दृष्टिवाद के कतिपय सूत्रो का त्रैराशिक[1] सूत्र पद्धति से रचे जाने, उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनो तथा चौवालीस ऋषि भाषित अध्ययनो, अतिम रात्रि मे भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञप्ति पचपन अध्ययनों तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के चौरासी हजार पदो आदि का इसमे उल्लेख हैं। नन्दी सूत्र की भी इसमें चर्चा है। इन उल्लेखो से ऐसा प्रकट होता है कि द्वादशाग के सूत्र-बद्ध हो जाने के पश्चात् इसका लेखन हुआ।

वर्णन क्रम

समवायाग मे कुलकरो, चौवीस तीर्थकरो, चक्रवर्तियो, बलदेवो एव वासुदेवो का, उनके माता पिता, जन्मस्थान आदि का नामानुक्रम से वर्णन किया गया है। उत्तम शलाका पुरुषो की सख्या चौवन (तीर्थंकर २४, चक्रवर्ती १२, वासुदेव ६, बलदेव ६+५४) दी गई हैं, तिरेसठ नही। वहा प्रतिवासुदेवो को शलाका पुरुषो मे नही लिया गया है। इससे यह सम्भावित प्रतीत होता है कि उन्हे बाद मे शलाका पुरुषो मे स्वीकार किया गया हो। यह सारा वर्णन समवायाग के जिस अश मे है, उसे एक प्रकार से सक्षिप्त जैन पुराण की सज्ञा दी जा सकती है। जैन पुराणो के उपजीवक के रूप मे निश्चय ही इस भाग का बडा महत्व है। भगवान् ऋषभ को यहा कौशलीय तथा भगवान् महावीर को वैशालीय कहा गया है, इससे भगवान् महावीर के वैशाली के नागरिक होने का तथ्य पुष्ट होता है।

समवायाग में लेख, गणित, रूपक, नाट्य गीति, वाद्ययन्त्र आदि बहत्तर कलाओ का वर्णन है। ब्राह्मी लिपि आदि अठारह लिपियो तथा ब्राह्मी के छयालीस मातृका अक्षरो की चर्चा है। इस पर आचार्य अभयदेवसूरि की टीका है।

५ विवाह-पण्णत्ति (व्याख्या-प्रज्ञप्ति)

जीव-अजीव आदि पदार्थो की विशद, विस्तृत व्याख्या होने

---

[1] मक्खलिपुत्र गोशालक का मत

विवेचन प्राप्त होता है जो इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। सातवें शतक में वर्णित महाशिलाकंटक संग्राम तथा रथमूसल संग्राम ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा युद्ध-विज्ञान की दृष्टि से प्राचीन भारत का एक महत्वपूर्ण प्रसंग है। अंग, वंग, मगध, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ, लाढ, वज्जि, मोलि, कासी, कोशल, अबाह, संभुत्तर आदि जनपदों का उल्लेख भारत की तत्कालीन प्रादेशिक स्थिति का सूचन करता है। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक भगवान् महावीर के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मखलिपुत्र गोशालक के जीवन, काम, आदि के संबंध में जितने विस्तार से यहां परिचय प्राप्त होता है, उतना अन्यत्र नहीं होता। स्थान स्थान पर पार्श्वापत्यों तथा उनके द्वारा स्वीकृत व पालित चातुर्याम धर्म का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर के समय में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के युग से चला आने वाला निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप में विद्यमान था। उसका भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित पंच महाव्रत मूलक धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा क्रमशः उसका भगवान् महावीर के आम्नाय में सम्मिलित होना प्रारम्भ हो गया था।

आचार्य अभयदेवसूरि की टीका के अतिरिक्त इस पर अवचूर्णि तथा लघुवृत्ति भी है। लघुवृत्ति के लेखक श्री दानशेखर हैं।

दर्शन-पक्ष

भगवती आगम के सहस्रों प्रश्नों में नाना प्रश्न दर्शन-सम्बद्ध हैं। वे जैन दर्शन की मूलभूत धारणाओं को स्पष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम शतक के षष्ठम उद्देशक में कतिपय जटिल प्रश्नों को एक नन्हे से उदाहरण से ऐसा उत्तरित कर दिया गया है कि उससे आगे कोई प्रश्न नहीं रहता। पहले जीव बना या अजीव, पहले लोक बना या अलोक आदि अनेक प्रश्नों के उत्तर में बताया गया है—पहले मुर्गी बनी या अण्डा, मुर्गी से अण्डा उत्पन्न हुआ या अण्डे से मुर्गी? जैसे मुर्गी और अण्डे में कोई क्रम नहीं बनता शाश्वत भाव होने के कारण जड़ और चेतन, लोक और अलोक में भी कोई क्रम नहीं बनता।

मुर्गी व अण्डे की पूर्वापरता का उदाहरण पूर्वोक्त क्रमबद्धता के प्रश्नों का निराकरण तो करता ही है, उनसे भी अधिक वह जगत्

कर्तृत्व के प्रश्न को निरस्त करता है। मुर्गी से अण्डा, अण्डे से मुर्गी यही कार्य कारण भाव पहले था, आज है। भविष्य मे भी रहेगा। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज, की भी यही बात है। माता-पिता के क्रम से सतति-परम्परा पहले भी चलती थी, आज भी चलती है, भविष्य मे नही चलेगी, यह सोचने का विषय नही है। यह चिन्तन अब बौद्धिक स्तर का नही रहा कि किसी समय यह क्रम नही चलता था और किसी जगत मे स्रष्टा ने इस 'कार्य कारण' स्थिति को खडा किया। भौतिक, अभौतिक प्रत्येक क्रिया का हेतु आज मनुष्य के लिए बुद्धिगम्य बनता जा रहा है। किसी दिन मनुष्य का ज्ञान आज की अपेक्षा बहुत सीमित था तथा वह बादलो मे प्रकटित इन्द्र धनुष को भी ईश्वरीय-लीला के अतिरिक्त कुछ नही सोच सकता था। भगवान् महावीर के कथनानुसार विश्व अस्तित्व की अपेक्षा अनादि, अनन्त तथा परिवर्तन की अपेक्षा सादि, सान्त है। भगवती आगम मे लोक विषयक प्रश्न को कई स्थानो पर अनेकान्त की विविध विधाओ से खोला है।

६ णायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा या ज्ञातृधर्मकथा)

नाम की व्याख्या

णायाधम्मकहाओ के तीन सस्कृत-रूपान्तर हो सकते हैं—ज्ञाताधर्मकथा, ज्ञातृधर्मकथा, न्याय धर्मकथा। अभिधान राजेन्द्र मे 'ज्ञाता धर्मकथा' व्याख्या में कहा गया है—"ज्ञात का अर्थ उदाहरण है। इसके अनुसार इसमे उदाहरण-प्रधान धर्मकथाए हैं। अथवा इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है— जिसके प्रथम श्रुत-स्कन्ध में ज्ञात अर्थात् उदाहरण हैं तथा दूसरे श्रुत-स्कन्ध में धर्म कथायें हैं, वह 'ज्ञाताधर्मकथा' है।"[1]

ज्ञातृधर्मकथा की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—ज्ञातृ अर्थात् ज्ञातृ कुलोत्पन्न या ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट

१ ज्ञातान्युदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा अथवा ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे, धर्मकथा द्वितीये, यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता ज्ञाताधर्मकथा।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २००६

धमकथाम्रो का जिसमें वणन है, वह ज्ञातृ धमकथा सूत्र है। परम्परया इसी नाम का अधिक प्रचलन है।

तीसरा रूप जो 'न्यायधमकथा' सूचित किया गया है, इसके अनुसार न्याय-ज्ञान अथवा नीति-सम्बन्धी सामान्य नियमो विधानो और दृष्टान्तो द्वारा बोध कराने वाली धमकथायें जिसमें हो, न्याय-धमकथा सूत्र है।

आगम का स्वरूप कलेवर

दो श्रुत स्कन्धो में आगम विभक्त है। प्रथम श्रुत स्कन्ध म उन्नीस अध्ययन हैं तथा दूसरे में दश वग। प्रथम श्रुत-स्कन्ध के अध्ययन में राजगृह के राजा श्रेणिक-बिम्बिसार के धारिणी नामक रानी से उत्पन्न राजपुत्र मेघकुमार का वर्णन है। जब वह कुमार अपने वैभव तथा समृद्धि के अनुरूप अनेक विद्याम्रो तथा कलाम्रो की शिक्षा प्राप्त करते हुए युवा हुआ, उसका अनेक राजकुमारियो म विवाह कर दिया गया। एक बार ऐसा प्रसग बना, राजकुमार ने भगवान् महावीर का उपदेश श्रवण किया। उसके मन मे वराग्य हुआ। उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। श्रमण धम का पालन करते हुए उसके मन मे कुछ दुबलता आई। वह क्षुब्ध हुआ और अनुभव करने लगा, जसे उसने राजवभव छोड श्रमण धम स्वीकार कर मानो भूल की हो। किन्तु भगवान् महावीर ने उसे उसके पूव भव का वत्तान्त सुनाया, तो उसका मन सयम मे स्थिर और दृढ हो गया। अन्य अध्ययनो में इसी प्रकार भिन्न भिन्न कथानक हैं, जिनके द्वारा तप, त्याग व सयम का उद्‌बोध दिया गया है। आठवें अध्ययन मे विदेह राजकन्या मल्लि तथा सोलहवें अध्ययन मे द्रौपदी के पूव जन्म की कथा है। ये दोनो कथायें बहुत महत्वपूर्ण हैं।

द्वितीय श्रुत-स्कन्ध दश वर्गो मे विभक्त है। इन वर्गों मे प्राय स्वर्गों के इन्द्रो की अग्रमहिषिया के रूप मे उत्पन्न होने वाली स्त्रियो की कथायें हैं।

आचाय अभयदेवसूरि की टीका है। उसे द्रोणाचाय ने सशोधित किया था। आचाय अभयदेवसूरि ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे जो लिखा है, उसके अनुसार तब अनेक वाचनायें प्रचलित थी।

७ उवासगदसाओ (उपासकदशा)

नाम अर्थ

उपासक का अर्थ श्रावक तथा दशा का अर्थ तद्‌गतअणुव्रत आदि क्रिया-कलापो से प्रतिबद्ध या युक्त अध्ययन (ग्रन्थ प्रकरण) है।[1]

प्रस्तुत श्रुतांग मे दश अध्ययन है जिनमे दश श्रावको के कथानक है। इन कथानको के माध्यम से जैन गृहस्थो द्वारा पालनीय धार्मिक नियम समझाये गये हैं। साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि धर्मोपासको को अपने धर्म के परिपालन के सन्दर्भ में कितने ही विघ्नो तथा प्रलोभनो का सामना करना पडता है, पर, वे उनसे कभी विचलित या धर्मच्युत नही होते। अन्त मे बारह गाथाओ द्वारा दशो कथानको के मुख्य वर्ण्य-विषयो का सकेत करते हुए ग्रन्थ का सार उपस्थित किया गया है।

आचारांग का पूरक

इस श्रुतांग को एक प्रकार से आचारांग का पूरक कहा जा सकता है। आचारांग में जहा श्रमण-धर्म का निरूपण किया गया है, वहाँ इसमें श्रमणोपासक—श्रावक या गृहस्थ-धर्म का निरूपण किया गया है। आनन्द आदि महावैभवशाली गृहस्थो का जीवन कैसा था उस समय देश की समृद्धि कैसी थी, इत्यादि विषयो का इस श्रुतांग से अच्छा परिचय मिलता है। आचार्य अभयदेवसूरि की इस पर टीका है।

इसी आगम का एक सुन्दर, सरस व हृदयस्पर्शी प्रसंग यहा प्रस्तुत किया जा रहा है—भगवान् महावीर अपनी बृहत् शिष्य मण्डली के साथ वैशाली के समीपस्थ वाणिज्य ग्राम मे आये। ईशान कोण स्थित द्युतिपलाश उद्यान मे ठहरे। इन्द्रभूति गौतम दो दिन से उपोसित थे। तीसरे दिन पात्र, चीवर और शास्ता की अनुज्ञा ले,

---

१ उपासका श्रावकास्तद्‌गताणुव्रतादि क्रियाकलापप्रतिबद्धा दशाध्ययनानि उपासकदशा।

—अभिधान राजेन्द्र भा० पृ० १०६४

भिक्षाटन के लिए निकले। गलियो व चौराहो पर एक ही चर्चा थी कि भगवान् महावीर का प्रथम उपासक आनन्द श्रमणोपासक प्रलम्ब तपस्या से अपने शरीर को क्षीण कर अब 'सथारा'—आमरण अनशन मे चल रहा है। गौतम के मन मे आनन्द से मिलने की उत्कठा जगी। भिक्षाटन से लौटते हुए वे आनन्द की पौषधशाला मे पहुचे। द्वार पर रुके। गौतम को आये देखकर आनन्द पुलकित हुआ। बोला—भदन्त ! मैं उठकर आगे आऊ, आपका अभिवादन करू, ऐसी मेरी शारीरिक क्षमता नही रही है। आप ही आगे आयें। मुझे निकट से दर्शन दें।

गौतम आगे बढे। आनन्द ने यथाविधि वन्दन कर स्वय को तृप्त किया। गौतम की ओर देख वह बोला, भदन्त ! मुझे इस शान्त साधना मे रहते हुए विशाल अवधिज्ञान (अतीन्द्रिय ज्ञान) की उपलब्धि हुई है, जिससे मैं पूर्व, पश्चिम व दक्षिण मे पाच पाच सौ योजन लवण समुद्र तक, उत्तर मे चूलहेमवत पर्वत तक, ऊचाई मे प्रथम सुधर्मा स्वर्ग तक, अधस्तल मे प्रथम नरक के लोलुच नरकवास तक सब कुछ हस्तामलकवत् देख सकता हू।

गौतम ने आनन्द के कथन पर विश्वास नही किया। कहा—आनन्द ! इतना विपुल अवधि ज्ञान किसी गृही को हो नही सकता। तुमने मिथ्या सम्भाषण किया है। इसका प्रायश्चित्त करो।

आनन्द ने कहा—भदन्त ! प्रायश्चित्त मिथ्याचरण का होता है, न कि सत्याचरण का। मैं प्रायश्चित्त का भागी नही हू। कृपया आप ही प्रायश्चित्त करें। आप ही ने सत्य को असत्य कहा है।

गौतम के मन मे आनन्द के कथन से दुश्चिन्ता हुई। मैं चतुर्दश सहस्र भिक्षुओ मे अग्रगण्य श्रमण हू। यह एक श्रमणोपासक मेरी बात को काट रहा है।

गौतम ने सोचा, इसका निर्णय मैं भगवान महावीर से कराऊँगा। वे द्रुतगति से उद्यान मे आये। भगवान् महावीर को वन्दन किया और सारी समस्या कही।

भगवान् महावीर तो वीतराग थे। उनके मन मे भला कब आता कि मेरे अग्रणी शिष्य की प्रतिष्ठा का प्रश्न है और मुझे

इसकी शान रखनी है। उन्हें तो यथार्थ ही कहना था। वे बोले, गौतम! प्रायश्चित्त के भागी तुम ही हो। तुमने असत्य का आग्रह लिया था। आनन्द ने जो कहा, वह सम्भव है, सत्य है। तुम इन्ही परो वापिस जाओ और श्रमणोपासक आनन्द से क्षमा याचना करो।

गौतम भी तो वीतराग-साधना के पथिक थे। अपने अह का विसर्जन कर, आनन्द के पास लौटे। अपनी भूल को स्वीकार किया, आनन्द से क्षमा-याचना की।

८ अ तगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)

नाम व्याख्या

जिन महापुरुषो ने घोर तपस्या तथा आत्म-साधना द्वारा निर्वाण प्राप्त कर जन्म मरण-आवागमन का अन्त किया, वे अन्त-कृत् कहलाये। उन अहतो का वर्णन होने से इस श्रुताग का नाम अन्तकृद्दशांग है। इस श्रुताग मे आठ वग हैं। प्रथम मे दश, द्वितीय मे आठ तृतीय मे तेरह, चतुथ मे दश, पचम मे दश, षष्ठ मे सोलह, सप्तम मे तेरह तथा अष्टम वग मे दश अध्ययन हैं। इस श्रुताग मे कथानक पूर्णतया वर्णित नही पाये जाते। 'वण्णओ' और 'जाव' शब्दो द्वारा अधिकाश वणन व्याख्या प्रज्ञप्ति अथवा ज्ञाताधमकथा आदि से पूण कर लेने की सूचना मात्र कर दी गयी है।

स्थानाग मे अन्तकृद्दशा का जो वर्णन आया है, उससे इसका वतमान स्वरूप मेल नही खाता। वहा इसके दश[1] अध्ययन बतलाये हैं। उन अध्ययनो के नाम इस प्रकार हैं १ नमि अध्ययन, २ मातग अध्ययन, ३ सोमिल अध्ययन, ४ रामगुप्त अध्ययन, ५ सुदशन अध्ययन, ६ जमालि अध्ययन, ७ भगालि अध्ययन,

---

१ दस दसाओ पण्णत्ताओ त जहा—
कम्मविवागदसाओ उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बधदसाओ दोगिद्धिदसाओ दीहदसाओ, सखेवियदसाओ।

—स्थानाग सूत्र, स्थान १० ६२

८ किकमपल्लित अध्ययन, ९ फालित अध्ययन, १० मडितपुत्र अध्ययन ।

बहुत सम्भावित यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे इस श्रुताग ग्रथ मे उपासकदशाग की तरह दश ही अध्ययन रहे होगे। पीछे पल्लवित होकर वतमान रूप मे पहुँचा हो। जिस प्रकार उपासक दशा मे गृहस्थ साधक या श्रावको के कथानक वर्णित है, उसी तरह इस श्रुताग मे ग्रहतो के कथानक वर्णित किये गये हैं और वे प्राय एक जसी शली मे लिखे गये हैं।

अन्तकृद्दशा के तृतीय वग के अष्टम अध्ययन मे देवकी-पुत्र गजसुकुमाल का कथानक है, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह कथानक उत्तरवर्ती जैन साहित्य मे पल्लवित और विकसित होकर अवतारित हुआ है। छठे वग के तृतीय अध्ययन मे अजु न माला-कार का कथानक है जो जन साहित्य मे बहुत प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र रूप मे इस कथानक पर अनेक रचनाए हुई हैं। अष्टम वग मे अनेक प्रकार की तपो विधियो, उपवासो तथा व्रतो का वणन है।

९ अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा)

नाम व्याख्या

श्रुताग मे कतिपय ऐसे विशिष्ट महापुरुषो के आख्यान हैं, जिन्होने तप -पूण साधना के द्वारा समाधि मरण प्राप्त कर अनुत्तर विमानो मे जन्म लिया। वहा से पुन केवल एक ही बार मनुष्य-योनि मे आना होता है, अर्थात् उसी मानव भव मे मोक्ष हो जाता है। अनुत्तर और उपपात (उदभव जन्म) के योग से यह शब्द बना है जो अन्वथक है।

तीन वर्गो मे यह श्रुताग विभक्त है। प्रथम वग मे दश, दूसरे वग मे तेरह तथा तीसरे वग मे दश अध्ययन है। इनमे चरित्रो का वणन परिपूण नही है। केवल सूचन मात्र कर अन्यत्र देखने का इगित कर दिया गया है। प्रथम वग मे धारिणी पुत्र जालि तथा तृतीय वग मे भद्रा पुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया है। धन्य अनगार की तपस्या, तज्जनित देह-क्षीणता आदि ऐसे

प्रसग हैं, जो महासीहनादसुत्त, कस्सपसीहनादसुत्त आदि पालि-ग्रथो मे वर्णित बुद्ध की तपस्याजनित दैहिक क्षीणता का स्मरण कराते हैं।

वर्तमान रूप अपरिपूर्ण, अयथावत्

ऐसा अनुमान है कि इस ग्रथ का वर्तमान मे जो स्वरूप प्राप्त है वह परिपूर्ण और यथावत् नही है। स्थानाग मे इसके भी दश अध्ययनो[1] को चर्चा आई है। प्रतीत होता है प्रारम्भ मे उपासकदशा तथा अन्तकृद्दशा की तरह इसके भी दश अध्ययन रहे हो, जो अब केवल तीन वर्गो के रूप मे अवशिष्ट हैं।

१० पण्हवागरणाइ (प्रश्नव्याकरण)

नाम के प्रतिरूप

श्रुताग के नाम मे प्रश्न और व्याकरण इन दो शब्दो का योग है, जिसका अर्थ है प्रश्नो का विश्लेषण, उत्तर या समाधान।[2] पर, आज इसका जो स्वरूप प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि इसमे प्रश्नोत्तरो का सर्वथा अभाव है।

वर्तमान रूप

प्रश्नव्याकरण का जो सस्करण प्राप्त है, वह दो खण्डो मे विभक्त है। पहले खण्ड मे पाच आस्रव द्वार—हिंसा, मृषावाद

---

१ अणुत्तरोववाइयदसाण दस अज्झयणा पण्णत्ता त जहा—
इसिदास य धण्णे य, सुनक्खत्ते य कित्तिये।
सठाणे सालिभद्दे ए आणदे तेयली इय॥
दसन्नभद्दे अइमुत्ते एमे ते दस आहिया॥

—स्थानाग सूत्र, स्थान १० ९६

२ प्रश्नाश्च पृच्छा व्याकरणानि च निवचनानि समाहारत्वात् प्रश्न व्याकरणम्। तत्प्रतिपादको ग्रथोपि प्रश्नव्याकरणम्। प्रश्ना अगुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते यस्मिन्निति प्रश्न व्याकरणम्। प्रवचनपुरुषस्य दशमेऽङ्गे। अय च व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्व कालेऽभूत्। इदानीं त्वास्रवपचकसवरपचकव्याकृतिरेवेहोपलभ्यते।

—अभिधान राजेन्द्र पचम भाग, पृ० ३९१

(असत्य), अदत्त (चौर्य), अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह का स्वरूप बड़े विस्तार के साथ बतलाया गया है। द्वितीय खण्ड मे पाच सवरद्वार—अहिंसा, सत्य दत्त (अचौर्य), ब्रह्मचर्य तथा निष्परिग्रह की विशद व्याख्या की गयी है। आचार्य अभयदेवसूरि की टीका के अतिरिक्त आचार्य ज्ञानविमल की भी इस पर टीका है।

वर्तमान-स्वरूप समीक्षा

स्थानाग सूत्र मे प्रश्न व्याकरण के उपमा, सख्या, ऋषिभाषित, आचार्य भाषित, महावीर-भाषित, क्षौमक[1] प्रश्न, कोमल प्रश्न, आदर्श-प्रश्न,[2] अ गुष्ठ प्रश्न तथा बाहु प्रश्न, इन दश[3] अध्ययनो की चर्चा है।

नन्दीसूत्र में एक सौ आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्न, अ गुष्ठ के प्रश्न, बाहु के प्रश्न, आदर्श (दर्पण) प्रश्न, अन्य अनेक दिव्य विद्याओ (मन्त्र प्रयोग), नागकुमार तथा स्वर्णकुमार देवो को सिद्ध कर दिव्य सवाद प्राप्त करना आदि प्रश्न-व्याकरण के विषय वर्णित हुये है।[4]

---

१ विद्या विशेष जिसस वस्त्र मे देवता का आह्वान किया जाता है।
—पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० २८१

२ विद्या विशेष, जिसमे दर्पण में देवता का आगमन होता है।
—पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ५१

३ पण्हावागरणदसाण दस अज्झयणा प०, त० उवमा, सखा, इसिभासियाइ, आयरियभासियाइ, महावीरभासियाइ, खोमगपसिणाइ, कोमलपसिणाइ, अद्दागपसिणाइ, अगुट्ठपसिणाइ, बाहुपसिणाइ।
—स्थानाग, स्थान १० ६८

४ से कि त पण्हावागरणाइ ? पण्हावागरणेसु ण अट्ठुत्तर पसिणसय अट्ठुत्तर अपसिणसय अट्ठुत्तर पसिणापसिण सय। त जहा—अगुट्ठपसिणाइ, बाहुपसिणाइ अद्दागपसिणाइ, अन्नेवि विचित्ता दिव्वा विज्जाइ, सया नाग सुवण्णेहिं सिद्धिं दिव्वा भवाया आघविज्जति पण्हावागरणाण परित्ता वायणा सखिज्जा अणुओगदारा, सखिज्जा वेढा, सखिज्जा सिलोगा ।
—नन्दी सूत्र पृ० १८५ ८६

स्थानाग और नन्दी में प्रश्न-व्याकरण के स्वरूप का जो विश्लेपण हुआ है, वैसा कुछ भी आज उसमे नही मिलता। इससे यह अनुमान करना अनुचित नही होगा, स्थानाग और नन्दी के अनुसार इसका जो मौलिक रूप था, वह रह नही पाया। सम्भवत. उसका विच्छेद हो गया हो।

११ विवागसुय (विपाकश्रुत)

अशुभ-पाप और शुभ-पुण्य कर्मों के दु खात्मक तथा सुखात्मक विपाक (फल) का इस श्रुताग मे प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण यह विपाक श्रुत या विपाक सूत्र कहा जाता है। दो श्रुत स्कन्धो मे यह श्रुताग विभक्त है। पहला श्रुत स्कन्ध दु ख-विपाक विषयक है तथा दूसरा सुख विपाक विषयक। प्रत्येक मे दश दश अध्ययन है, जिनमे जीव द्वारा आचरित कर्मों के अनुरूप होने वाले दु खात्मक और सुखात्मक फलो का विश्लेषण है।

जैन दर्शन मे कर्म-सिद्धान्त का जो सूक्ष्म, तलस्पर्शी एव विशद विवेचन हुआ है, विश्व के दर्शन-वाड्मय मे वह अनन्य व असाधारण है। उसके सोदाहरण विश्लेपण-विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसमे जहा कही लट्ठी टेक कर चलता हुआ, भीख मागता हुआ कोई अन्धा दिखाई देता है वहाँ कही खास, कास, कफ, भग दर, खुजली, कुष्ट आदि भयावह रोगो से पीडित मनुष्य मिलते हैं। राजपुरुपो द्वारा निदयतापूर्वक ताडित, पीडित तथा उद्वेलित किये जाते लोग दिखाई देते हैं। गर्भवती स्त्रियो के दोहद, नर-बलि, वेश्याओ के प्रलोभन, नाना प्रकार के मास-सस्कार व मिष्ठान्न आदि के विपय मे भी प्रस्तुत ग्रन्थ मे विवरण प्राप्त होते हैं। इससे पुरातनकालीन मान्यताओ, प्रवृत्तियो, प्रथाओ, अपराधो आदि का सहज ही परिचय प्राप्त होता है। सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुताग बहुत महत्वपूर्ण है।

स्थानाग मे कम्मविवागदसाओ के नाम से उल्लेख हुआ है। वहा उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ तथा

पण्हावागरणदसाओ की तरह इसके दश अध्ययन[1] बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं —१ मृगापुत्र अध्ययन, २ गोत्रास अध्ययन, ३ अण्ड अध्ययन, ४ शकट अध्ययन, ५ ब्राह्मण अध्ययन, ६ नंदिषेण अध्ययन ७ सौरिक अध्ययन, ८ उदुम्बर अध्ययन, ९ सहस्रदाह आमलक अध्ययन, १० कुमारलक्ष्मी अध्ययन।

वर्तमान में प्राप्त विपाक सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के दश अध्ययन[2] इस प्रकार हैं —१ मृगापुत्र अध्ययन, २ उज्झित अध्ययन, ३ अभग्ग (अभग्न) सेन अध्ययन ४ शकट अध्ययन, ५ बृहस्पति अध्ययन ६ नन्दि अध्ययन ७ उम्बर अध्ययन ८ शौर्यदत्त अध्ययन, ९ देवदत्ता अध्ययन, १० अंजु अध्ययन।

द्वितीय श्रुत स्कन्ध के अध्ययन इस प्रकार हैं १ सुबाहु अध्ययन, २ भद्रनन्दी अध्ययन, ३ सुजात अध्ययन ४ सुवासव अध्ययन, ५ जिनदास अध्ययन, ६ धनपति अध्ययन, ७ महाबल अध्ययन, ८ भद्रनन्दी अध्ययन, ९ महाचन्द्र अध्ययन तथा १० वरदत्त अध्ययन[3]।

---

१ कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

मियापुत्ते य गुत्तासे अंडे सगडेइ यावरे।
माहणे नन्दिसेणे य, सूरिए य उदुंबरे॥
सहसुद्दाहे आमलए, कुमारे लच्छई ति य।

—स्थानांग, स्थान १० ९३

२ समणेणं आइगरेणं जाव सपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—मियापुत्ते उज्झियए अभग्ग, सगडे, बहस्सइ, नंदी, ऊंबर, सोरियदत्ते य देवदत्ता य, अंजु य।

—विपाक सूत्र, प्रथम श्रुत स्कन्ध, प्रथम अ० ६

३ समणेणं जाव सपत्तेणं सुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता तं जहा—
सुबाहु, भद्दणंदी, सुजाये, सुवासवे, तहेव जिणदासे।
धणपति य महब्बलो, भद्दणंदी, महच्चंदे, वरदत्ते॥

—विपाक सूत्र, द्वितीय श्रुत-स्कन्ध, प्रथम अ० २

द्वितीय श्रुत स्कन्ध मे सुबाहुकुमार से सम्बद्ध प्रथम अध्ययन विस्तृत है। अग्रिम नौ अध्ययन अत्यन्त संक्षिप्त हैं। उनमे पात्रो के चरित की सूचनाए मात्र हैं। प्राय सुबाहुकुमार की तरह परिज्ञात करने का संकेत कर कथानक का संक्षेप कर दिया गया है। इन्हे केवल नाम-मात्र के अध्ययन कहा जा सकता है।

स्थानाग सूत्र मे वर्णित कम्मविवागदसाओ के तथा विपाक सूत्र प्रथम श्रुत-स्कन्ध के निम्नांकित अध्ययन प्राय नाम-सादृश्य लिये हुए हैं

स्थानाग	विपाक सूत्र, प्रथम श्रुत-स्कन्ध
१ मृगापुत्र अध्ययन	१ मृगापुत्र अध्ययन
४ शकट अध्ययन	४ शकट अध्ययन
६ नन्दिषेण अध्ययन	६ नन्दि (नन्दिषेण) अध्ययन
७ उदुम्बर अध्ययन	७ उम्बर अध्ययन

तुलनात्मक विवेचन से ऐसा अनुमान असम्भाव्य कोटि मे नही जाता कि विपाक (सूत्र) का स्वरूप कुछ यथावत् रहा हो, कुछ परिवर्तित या शब्दान्तरित हुआ हो। अध्ययनो की क्रम-स्थापना मे भी कुछ भिन्नता आई हो।

१२ दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)

स्थानाग में दृष्टिवाद के पर्याय

पूर्वों के विवेचन-प्रसग में दृष्टिवाद के विषय मे सकेत किया गया है। इसे विच्छिन्न माना जाता है। स्थानाग सूत्र मे इसके दस पर्यायवाची शब्दों[1] का उल्लेख हुआ है १ दृष्टिवाद, २ हेतुवाद, ३ भूतवाद, ४ तत्त्ववाद, ५ सम्यक्वाद, ६ धर्मवाद ७ भाषा-विजय, ८ पूर्वगत, ९ अनुयोगगत, १० सर्वप्राण भूतजीव सत्त्व सुखावह।

---

१ "दिट्ठिवायस्स ण दस नामधिज्जा प० त० दिट्ठिवाएइ वा हेउवाएइ वा भूयवाएइ वा तच्चावाएइ वा सम्मावाएइ वा धम्मावाएइ वा भासाविजएइ वा पुव्वगएइ वा अणुओगगएइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहे" वा।
—स्थानाग सूत्र, स्थान १०, ७७

दृष्टिवाद के भेद : ऊहापोह

समवायाग आदि मे दृष्टिवाद के पाच भेदो का उल्लेख है — १ परिकर्म, २ सूत्र, ३ पूर्वगत, ४ अनुयोग, ५ चूलिका। स्थानाग सूत्र मे दिये गये दृष्टिवाद के पर्यायवाची शब्दो मे आठवा 'पूर्वगत' है। यहा दृष्टिवाद के भेदो मे तीसरा 'पूर्वगत' है। अर्थात् 'पूर्वगत' का प्रयोग दृष्टिवाद के पर्याय के रूप मे भी हुआ है और उसके एक भेद के रूप मे भी। दोनो स्थानो पर उसका प्रयोग साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है, भिन्नार्थकता लिये हुये होना चाहिये क्योकि दृष्टिवाद समष्ट्यात्मक सज्ञा है इसलिए उसके पर्याय के रूप मे प्रयुक्त 'पूर्वगत' का यही अर्थ होना है जो दृष्टिवाद का है। दृष्टिवाद के एक भेद के रूप मे आया हुआ 'पूर्वगत' शब्द सामान्यत दृष्टिवाद के एक भाग या अश का द्योतक होता है, जिसका आशय चतुर्दश पूर्वात्मक ज्ञान है।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से दृष्टिवाद और पूर्वगत—चतुर्दश पूर्व ज्ञान एक नही कहा जा सकता। पर, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। वस्तुत चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान की व्यापकता इतनी अधिक है कि उसमे सब प्रकार का ज्ञान समाविष्ट हो जाता है। कुछ भी अवशेष नही रहता। यही कारण है कि चतुर्दश पूर्वधर की सज्ञा श्रुत-केवली है। पूर्वगत को दृष्टिवाद का जो एक भेद कहा गया है वहाँ सम्भवत एक भिन्न दृष्टिकोण रहा है। पूर्वगत के अतिरिक्त अन्य भेदो द्वारा विभिन्न विधाओ को सकेतित करने का अभिप्राय उनके विशेष परिशीलन से प्रतीत होता है। कुछ प्रमुख विषय – ज्ञान के कतिपय विशिष्ट पक्ष जिनकी जीवन मे अपेक्षाकृत विशेष उपयोगिता होती है, विशेष रूप से परिशीलनीय होते हैं, अत सामान्य विशेष के दृष्टिकोण से यह निरूपण किया गया प्रतीत होता है। अर्थात् सामान्यत तो पूर्वगत मे समग्र ज्ञान-राशि समायी हुई है ही, पर विशेष रूप से तद्व्यतिरिक्त भेदो की वहा अध्येतव्यता विवक्षित है।

भेद-प्रभेदो के रूप मे विस्तार

दृष्टिवाद के जो पाच भेद बतलाये गये हैं, उनके भेद प्रभेदो

से भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनसे अधिगत होता है कि परिकम के अन्तगत लिपि विज्ञान और गणित का विवेचन था। सूत्र के अन्तगत छिन्नछेदनय, अछिन्नछेदनय तथा चतुनय आदि विमश-परिपाटियो का विश्लेषण था। छिन्नछेदनय व चतुनय की परिपाटिया निग्र न्थो द्वारा तथा अच्छिन्नछेदनयात्मक परिपाटी आजीवको द्वारा व्यहृत थी। आगे चल कर इन सब का समावेश जैन नयवाद मे हो गया।

अनुयोग का तात्पर्य

दृष्टिवाद का चतुथ भेद अनुयोग है, उसे प्रथमानुयोग तथा गण्डिकानुयोग[1] के रूप मे दो भागो मे बाटा गया है। प्रथम मे अहतो के गभ, जन्म, तप, ज्ञान आदि से सम्बद्ध इतिवृत्त का समावेश है, जब कि दूसरे मे कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषो के चरित का। जिस प्रकार के विषयो के निरूपण की चर्चा है, उससे अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण की सज्ञा दी जा सकती है। दिगम्बर-परम्परा मे इसका सामान्य नाम प्रथमानुयोग ही प्राप्त होता है।

दृष्टिवाद के पचम भेद चूलिका के सम्बन्ध मे कहा गया है—चूला (चूलिका) का अथ शिखर है। जिस प्रकार मेरु पवत की चूलाए (चूलिकाए) या शिखर हैं, उसी प्रकार दृष्टिवाद के अन्तगत परिकम, सूत्र, पूव और अनुयोग मे उक्त और अनुक्त, दोनो प्रकार के अर्थों—विवेचना की सग्राहिका, ग्रन्थ-पद्धतिया चूलिकायें हैं। चूर्णिकार ने बतलाया है कि दृष्टिवाद मे परिकम, सूत्र, पूव और अनुयोग मे जो अभणित या अव्याख्यात है, उसे चूलिकाओ मे व्याख्यात किया गया है। प्रारम्भ के चार पूर्वों[2] की जो चूलिकायें हैं, उन्ही का यहा अभिप्राय है[3]। दिगम्बर-परम्परा मे ऐसा नही माना

---

१ एकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते। तासामनुयोगोऽर्थकथनविधिगण्डिकानुयोगा।

—अभिधानराजेन्द्र, तृतीय भाग, पृ० ७६१

२ (१) उत्पाद, (२) अग्रायणीय (३) वीयप्रवाद, (४) अस्ति नास्ति प्रवाद।

३ अथ काश्ताश्चूला ? इह चूला शिखरमुच्यते। यथा मेरौ चूला, तत्र

क्रमश:

जाता। वहा चूलिका के पाच भेद बतलाये गये हैं १ जलगत, २ स्थलगत, ३ मायागत ४ रूपगत तथा ५ आकाशगत। ऐसा अनुमेय है कि इन चूलिका भेदो के विषय मे सम्भवत इन्द्रजाल तथा मन्त्र तन्त्रात्मक आदि थे, जो जन धम की तात्त्विक (दार्शनिक) तथा समीक्षा प्रधान दृष्टि के आगे अधिक समय तक टिक नही सके, क्योकि इनकी अध्यात्म-उत्कष से सगति नही थी।

द्वादश उपाग

उपाग

प्राचीन परम्परा से श्रुत का विभाजन अग-प्रविष्ट और अगवाह्य के रूप मे चला आ रहा है। नन्दी सूत्र मे अग वाह्य का कालिक और उत्कालिक सूत्रो के रूप मे विवेचन हुआ है। जो सूत्र ग्रन्थ आज उपागो मे अन्तर्गभित हैं, उनका उनमे समावेश हो जाता है। अग ग्रन्थो के समकक्ष उतनी ही (बारह) सख्या मे उपाग ग्रन्थो का निर्धारण हुआ। उसके पीछे क्या स्थितिया रही, कुछ भी स्पष्ट नही है। आगम पुरुष की कल्पना की गई। जहा उसके अग-स्थानीय शास्त्रो की परिकल्पना और अग-सूत्रो की तत्स्थानिक प्रतिष्ठापना हुई, वहा उपाग भी कल्पित किये गये। इससे अधिक सम्भवत कोई तथ्य, जो ऐतिहासिकता की कोटि मे आता हो, प्राप्त नही है। आचाय उमास्वाति के तत्त्वाथ भाष्य मे उपाग शब्द व्यवहृत हुआ है।

अग उपाग असादृश्य

अग गणधर रचित हैं। उनके अपने विषय हैं। उपाग स्थविर-रचित हैं। उनके अपने विषय है। विषय वस्तु, विवेचन आदि की

[पूव पृष्ठ का शेष]

चूला इव चूला दृष्टिवादे परिकम्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्ताथसग्रहपरा ग्रन्थ पद्धतय । तथा चाह चूर्णिकृत् दिट्ठिवाए ज परिकम्मसुत्तपुव्वाणुजोगे चूलिय न भणिय त चूलासु भणिय ति। अत्र सूरिराह-चूला आदिमाना चतुर्णां पूर्वाणाम् शेषाणि पूर्वाण्यचूलिकानि, ता एव चूला

—अभिधान राजेन्द्र चतुथ भाग पृ० २५१५

दृष्टि से वे परस्पर प्राय असदृश या भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, पहला उपांग पहले अंग से विषय, विश्लेषण, प्रस्तुतीकरण आदि की दृष्टि से सम्बद्ध होना चाहिये, पर, वैसा नहीं है। यही लगभग सभी उपांगों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। यदि यथार्थ संगति जोड़ें तो उपांग अंगों के पूरक होने चाहिये, जो नहीं हैं। फिर इस नाम की प्रतिष्ठापना कैसे हुई, कोई व्यक्त समाधान दृष्टिगत नहीं होता।

वेदों के अंग

भारत के प्राचीन वाङ्मय में वेदों का महत्वपूर्ण स्थान है। वेदों के अर्थ को समझने के लिये, वहाँ वेदांगों की कल्पना की गयी जो शिक्षा (वैदिक संहिताओं के शुद्ध उच्चारण तथा स्वर संचार के नियम-ग्रन्थ), व्याकरण, छन्द शास्त्र, निरुक्त (व्युत्पत्ति शास्त्र), ज्योतिष तथा कल्प (यज्ञादि प्रयोगों के उपपादन ग्रन्थ) के नाम से प्रसिद्ध हैं[1]। इनके सम्यग् अध्ययन के बिना वेदों को यथावत् समझना तथा याज्ञिक रूप में उनका क्रियान्वयन सम्भव नहीं हो सकता, अतः उनका अध्ययन आवश्यक माना गया।

वेदों के उपांग

वेदार्थ की और अधिक स्पष्टता तथा जन-ग्राह्यता साधने के हेतु उपर्युक्त वेदांगों के अतिरिक्त वेदों के चार उपांगों की कल्पना की गयी, जिनमें पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र का स्वीकार हुआ[2]।

---

१ छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

—पाणिनीय शिक्षा, ४१–४२

२ (क) संस्कृत हिन्दी कोश आप्टे, पृ० २१४

(ख) Sanskrit–English Dictionary, by Sir Monier M William P 213

(ग) पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।

याज्ञवल्क्य स्मृति, १–३

यह भी आवश्यकता के अनुरूप हुआ और इससे अभीप्सित ध्येय सधा भी। फलत वेदाध्ययन मे सुगमता हुई।

उपवेदो की परिकल्पना

वदिक साहित्य मे चारो वेदो के समकक्ष चार उपवेदो की भी कल्पना हुई जो आयुर्वेद गा धव वेद (सगीत-शास्त्र), धनुर्वेद और अर्थशास्त्र (राजनीति विज्ञान) के रूप मे प्रसिद्ध है।

वेदो के अ गो तथा उपागो की प्रतिष्ठापना की तो साथकता सिद्ध हुई, पर, उपवेद वेदो के किस रूप मे पूरक हुये, दार्शनिक दृष्टि से उतना स्पष्ट नही है, जितना होना चाहिये। उदाहरणार्थ, सामवेद को गा धव वेद से जोडा जा सकता है, उसी तरह अन्य वेदो की भी वेदो के साथ सगति साधने के लिए विवक्षा हो सकती है। दूरान्वित-तया सगति जोडना या परस्पर तालमेल बिठाना कही भी दु सम्भव नही होता। पर, वह केवल तक कौशल और वाद-नैपुण्य की सीमा मे आता है। उसमे वस्तुत सत्योपपादन का भाव नही होता। पर, 'उप' उपसग के साथ निष्पन्न शब्दा मे जो 'पूरकता' का विशेष गुण होना चाहिये, वह कहा तक फलित होता है, यही देखना है। जसे, गा धव उपवेद सामवेद मे नि सृत या विकसित शास्त्र हो सकता है, पर, वह सामवेद का पूरक हो, जिसके बिना सामवद मे कुछ अपूणता प्रतीत होती हो ऐसा कैसे माना जा सकता है ? सामवेद और गा धव उपवेद की ता किसी न किसी तरह सगति बठ भी सकती है, पर, औरो के साथ ऐसा नही हो सकता। फिर भी ऐसा किया गया, यह क्यो ? इस प्रश्न का इत्थभूत समाधान सुलभ नही दीखता। हो सकता है, धनुर्वेद आदि लोकजनीन शास्त्रो का मूल वदिक वाड्मय का अ श या भाग सिद्ध करने की उत्कठा का यह परिणाम हुआ हो।

जैन श्रुतोपाग

अ ग प्रविष्ट या अ ग-श्रुत सर्वाधिक प्रामाणिक है, क्योकि वह भगवत्प्ररूपित और गणधर सर्जित है। तद्व्यतिरिक्त साहित्य (स्थविरकृत) का प्रामाण्य उसके अ गानुगत होने पर है। वतमान मे जिसे उपाग साहित्य कहा जा सकता है, वह सब अ ग-बाह्य मे सनिविष्ट है। उसका प्रामाण्य अ गानुगतता पर है, स्वतन्त्र नही।

फिर बारह ग्रन्थों को उपांगों के रूप में लिये जाने के पीछे कोई विशेष उपयोगितावादी सार्थकतावादी दृष्टिकोण रहा हो, यह स्पष्ट भाषित नहीं होता।

वेद के सहायक अंग तथा उपांग ग्रन्थों की तरह जैन मनीषियों का भी अपने कुछ महत्वपूर्ण अंग-बाह्य ग्रन्थों को उपांग दे देने का विचार हुआ हो। क्रम-सज्जा, नाम-सौष्ठव आदि के अतिरिक्त इसके मूल में कुछ और भी रहा हो, यह गवेष्य है, क्योंकि हमारे समक्ष स्पष्ट नहीं है। उपांगों (जैन श्रुतोपांगों) के विषय में ये विकीर्ण जैसे विचार हैं। जैन मनीषियों पर इसके सन्दर्भ में विशेष रूप से चिन्तन और गवेषणा का दायित्व है।

१ उववाइय (ओववाइय) (औपपातिक)

औपपातिक का अर्थ

उपपात का अर्थ प्रादुर्भाव या जन्मान्तर संक्रमण है। उपपात ऊर्ध्वगमन या सिद्धि-गमन (सिद्धत्व-प्राप्ति) के लिये भी व्यवहृत हुआ है। इस अंग में नरक व स्वर्ग में उत्पन्न होने वालों तथा सिद्धि प्राप्त करने वालों का वर्णन है, इसलिए यह औपपातिक है। यह पहला उपांग है।[१]

नाना परिणामों, विचारों, भावनाओं तथा साधनाओं से भवान्तर प्राप्त करने वाले जीवों का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुये इस आगम में हृदयग्राही विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें नगर, उद्यान, वृक्ष, पृथ्वीशिला, राजा, रानी, मनुष्य-परिषद्, देव-परिषद्, भगवान् महावीर के गुण, साधुओं की उपमाएँ, तप के ३५४ भेद, केवलि-समुद्घात, सिद्ध, सिद्ध-सुख आदि के विशद वर्णन प्राप्त होते हैं। अन्य (श्रुत) ग्रन्थों में इसी ग्रन्थ का उल्लेख कर यहां से परिज्ञात करने का संकेत कर

---

१ उपपतनमुपपातो देवनारकजन्मसिद्धिगमनं चातस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकमिदं चोपांग वर्तते।

—अभिधान राजेन्द्र तृतीय भाग, पृ० ९०

उन्हें वर्णित नहीं किया गया है। श्रुत-वाङ्मय में वर्णनात्मक शैली की रचनाओं में यह महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

२ रायपसेणीअ (राज प्रश्नीय)

देव अधिकार, देव विमान-अधिकार, देव ऋद्धि अधिकार, परदेशी राजा अधिकार तथा दृढप्रतिज्ञकुमार अधिकार नामक पाच अधिकारों में यह आगम विभक्त है। प्रथम तीन अधिकारों में सूर्याभ देव का, चतुर्थ अधिकार में परदेशी राजा का तथा पचम में दृढप्रतिज्ञ कुमार का वर्णन है।

गणधर गौतम द्वारा महा समृद्धि, विपुल वैभव, अनुपम दीप्ति, कान्ति और शोभा-सम्पन्न सूर्याभदेव का पूर्व-भव पूछे जाने पर भगवान महावीर उन्हे उसका पूर्व-भव बतलाते हुए कहते हैं कि, यह पूर्व भव मे राजा परदेशी था। यहीं से राजा परदेशी का वृत्तान्त प्रारम्भ हो जाता है, जो इस सूत्र का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग है। राजा परदेशी अनात्मवादी या जडवादी था। उसका भगवान् पार्श्व के प्रमुख शिष्य केशीकुमार के सम्पर्क में आने का प्रसग बनता है। अनात्मवाद और आत्मवाद के सन्दर्भ में विस्तृत वार्तालाप होता है। राजा परदेशी अनात्मवादी, अपुनर्जन्मवादी तथा जडवादी दृष्टिकोण को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित करता है, तर्क प्रस्तुत करता है। श्रमण केशीकुमार युक्ति और न्यायपूर्वक विस्तार से उसका समाधान करते हैं। राजा परदेशी सत्य को स्वीकार कर लेता है और श्रमणोपासक बन जाता है। धर्माराधना पूर्वक जीवन यापन करने लगता है। रानी द्वारा विष प्रयोग, राजा द्वारा किसी भी तरह से विद्विष्ट और विक्षुब्ध भाव के बिना आमरण अनशन पूर्वक प्राण-त्याग के साथ यह अधिकार समाप्त हो जाता है।

आत्मवाद तथा जडवाद की प्राचीन परम्पराओं और विमर्श पद्धतियों के अध्ययन की दृष्टि से इस सूत्र का यह भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गणधर गौतम के पूछे जाने पर भगवान् महावीर ने आगे बताया कि सूर्याभदेव अपने अग्रिम जन्म में दृढप्रतिज्ञकुमार

होगा। इस प्रकार अन्तिम अधिकार मे भविष्यमाण जीवन-वृत्त का उल्लेख है।

सूर्याभदेव के विशाल, सुन्दर, समृद्ध और सर्वविध सुविधापूर्ण सुसज्ज विमान की रचना आदि के प्रसग मे जो वर्णन आया है, वहा तोरण, शालभजिका, स्तम्भ, वेदिका सुप्रतिष्ठक, फलक, करण्डक, सूचिका, प्रेक्षागृह, वाद्य, अभिनय आदि शब्द भी प्राप्त होते हैं। वास्तव मे प्राचीन स्थापत्य, सगीत आदि के परिशीलन की दृष्टि से यह प्रसग महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर के समक्ष देवकुमारो तथा देवकुमारियो द्वारा बत्तीस प्रकार के नाटक प्रदर्शित किये जाने का प्रसग प्राचीन नृत्त,[१] नृत्य[२] और नाट्य आदि के सन्दर्भ मे एक विश्लेषणीय और विवेचनीय विषय है।

नन्दी सूत्र मे रायपसेणिय शब्द आया है। आचार्य मलयगिरि ने इस नाम को रायपसेणीअ माना है। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने इसके लिये रायपसेणइय का प्रयोग किया है। इस सूत्र के प्रधान पात्र या कथा नायक के सम्बन्ध मे एकमत्य नही है। उस मतद्वैध का आधार यह नाम भी बना है। परम्परा से राजा परदेशी इस सूत्र के कथानक का मुख्य पात्र है। पर, डा० विण्टरनित्ज के मतानुसार मूलत इस आगम मे कोशल के इतिहास-प्रसिद्ध राजा प्रसेनजित् की कथा थी। बाद मे उसे राजा परदेशी से जोडने का प्रयत्न हुआ।

रायपसेणीअ तथा रायपसेणइय शब्दो का सम्बन्ध तो राजा प्रसेनजित् से जुडता है, पर, वतमान मे प्राप्त कथानक का सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से राजा प्रसेनजित् से जोडना सम्भव प्रतीत नही होता। यह सारा कथा क्रम कैसे परिवर्तित हुआ, क्या-क्या स्थितियाँ उत्पन्न हुई, कुछ कहा जाना शक्य नही है। इसलिए जब तक परिपुष्ट

---

१ नृत्त ताललयाश्रयम्। ताल से मात्रा और लय से द्रुत, मध्य तथा मन्द। जैसे लोक नृत्य, भीलो का गरबा।

२ भावाश्रय नृत्यम्। नृत्य मे गात्र विक्षेप से भाव व्यजना। जैसे, भरतनाट्यम् कत्थक-नृत्य उदयशकर के नृत्य। विशेष—नृत्त और नृत्य के दो-दो भेद हैं—लास्य—मधुर, ताण्डव—उद्धत।

प्रमाण न मिले, तब तक केवल नाम-साम्य कोई ठोस आधार नही माना जा सकता।

इस आगम की उल्लेखनीय विशेषता है, राजा प्रदेशी के अनघड प्रश्न और केशीकुमार श्रमण के मजे-मजाये उत्तर। राजा प्रदेशी कहता है—"भदन्त ! मैंने एक बार आत्म-स्वरूप को समझने, साक्षात् देखने के लिए प्रयोग किया। एक जीवित चोर के दो टुकड़े किये, पर, आत्मा कही दिखाई नही पडी। दो के चार, चार के आठ, इस तरह मैं उसके शरीर का खण्ड-खण्ड करते ही गया, पर आत्मा कही नही मिली। आत्मा यदि शरीर से भिन्न तत्त्व हो, तो अवश्य वह पकड मे आती।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! तू कठियारे की तरह मूर्ख है। चार कठियारो ने वन मे जाकर एक को रसोई का काम सौंपा। तीन लकडिया काटने मे लगे। अग्नि के लिए उसे 'अरणी' की लकडी दे गये। रसोई के लिए स्थित कठियारे को यह मालूम नही था कि अरणी का घर्षण कर के कैसे अग्नि उत्पन्न की जाती है। उसने भी अग्नि प्रकट करने के लिए 'अरणी' पर कुठार मारा। दो, चार, छह टुकडे करता ही गया। चूर्ण कर दिया। पर अग्नि कहा ? हताश बैठा रहा। रसोई न बना सका। तीनो कठियारे वापिस आये। वस्तु स्थिति से अवगत होकर बोले - बडा मूर्ख है तू, ऐसे भी कभी अग्नि प्रकट होती है ? देख, एक चतुर कठियारे ने तत्काल यथाविधि घर्षण कर उसे अग्नि प्रकट कर दिखाई। राजन् ! तू भी क्या कठियारे जैसा मूर्ख नही हैं ?"

प्रदेशी—"भन्ते ! मैं तो मूर्ख कठियारे जैसा हू, पर आप तो चतुर कठियारे जैसे है। उसने जसे अग्नि प्रकट कर बताई, आप भी आत्मा को प्रकट कर बतायें।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! इसी उद्यान मे हिलते हुए वृक्षो को देख रहे हो ?"

प्रदेशी—"हा, भन्ते !"

केशीकुमार श्रमण—"यह भी बताओ, इन्हे कौन हिला रहा है ?"

प्रदेशी—"भन्ते ! पवन।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! तुम क्या देख रहे हो कि पवन कैसा है उसका वर्ण, आकार कैसा है ?"

प्रदेशी—"भन्ते ! पवन देखने का विषय नही, वह तो अनुभूति का विषय है।"

केशीकुमार श्रमण—"राजन् ! आत्मा भी देखने का विषय नही, अनुभूति का विषय है। वह चेतना, अनुभूति, ज्ञान आदि अपने गुणो से अनुभत होती है।"

प्रदेशी—"भन्ते ! आपकी प्रज्ञा प्रबल है। आपने मुझे निरुत्तर किया है, पर, इस विषय में मेरे अन्य प्रश्न है।"

प्रदेशी व केशीकुमार श्रमण के प्रश्नोत्तरो का इस प्रकार एक प्रलम्ब क्रम इस आगम मे है। अन्त मे प्रदेशी राजा प्रतिबुद्ध होता है, पर आर्हत् धर्म को स्वीकार करना नही चाहता। तब उसे लोह वणिक् के उदाहरण से समझाया जाता है। केशीकुमार श्रमण कहते हैं—"राजन् ! तुम तो वैसे ही मूर्ख निकले, जैसे लोह वणिक् था।"

प्रदेशी—"भन्ते ! उसने क्या मूर्खता की ?"

केशीकुमार श्रमण—"चार वणिक् देशान्तर के लिए निकले। अरण्य मे जाते हुए क्रमश लोहा, चादी, सोना व रत्नो की खानें आईं। तीन वणिको ने लोह के बदले चादी, चादी के बदले सोना, सोने के बदले रत्न उठा लिये। एक वणिक लोहा ही उठाये चलता रहा। कहा, तो भी न माना। अपनी नगरी मे लौटने के पश्चात् तीनो वणिक् श्रीमन्त हो गये। वह लोहा बेचकर चने बेचने की फेरी लगाने लगा। कालान्तर से जब उसने अपने तीन साथियो का वैभव देखा, अपनी भूल पर रो रोकर पछताने लगा। राजन् ! अर्हत्-धर्म रूप रत्नो को स्वीकार नही कर के कालान्तर से लोह वणिक् की तरह तुम भी पछताओगे।

प्रस्तुत आगम मे आस्तिकता-नास्तिकता जैसे दुर्गम प्रश्न को सरस व सुगम रूप से सुलझाया गया है। प्रदेशी राजा अर्हद्-धर्म

स्वीकार कर उसकी कठिन आराधना करता है। इस आगम का यही कथानक बौद्ध-परम्परा मे लगभग इसी रूप मे चर्चित है।

३ जीवाजीवाभिगम

उपाग के नाम से ही स्पष्ट है इसमे जीव, अजीव, उनके भेद, प्रभेद आदि का विस्तृत वणन है। सक्षेप मे इसे जीवाभिगम भी कहा जाता है। परम्परा से ऐसा माना जाता है कि कभी इसमे बीस विभाग थे, परन्तु वतमान मे जो सस्करण प्राप्त है, उसमे केवल नौ प्रतिपत्तिया[1] (प्रकरण) मिलती है, जो २७२ सूत्रो मे विभक्त है। हो सकता है वे बीस विभाग या उनका महत्वपूण भाग या लुप्त हो जाने से बचा हुआ भाग इन नौ प्रतिपत्तियो मे विभक्त कर सकलन की दृष्टि से नये रूप मे प्रस्तुत कर दिया गया हो। ये सब अनुमान है जिनसे अधिक वितकणा करने के साधन आज उपलब्ध नही हैं।

गणधर गौतम के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर की शृखला मे इस ग्रन्थ मे रूपी, अरूपी सिद्ध ससारी स्त्री पुरुष व नपु सक वेद, सातो नरको मे प्रतर तियच भुवनपति व्यन्तर ज्योतिष्क देव जम्बूद्वीप, लवण समुद्र उत्तर कुरु, नीलवन्तादि द्रह, धातकी खण्ड, कालोदधि, मानुषोत्तर पवत, मनुष्य लोक, अन्यान्य द्वीप-समुद्र आदि का वणन है। कही-कही वणना का विस्तार हुआ है। प्रसगोपात्ततया इसमे लोकोत्सव, यान अलकार, उद्यान, वापिका, सरोवर, भवन, सिहासन, मिष्ठान्न, मदिरा, धातु आदि की भी चर्चा आई है। प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो के अध्ययन की दृष्टि से इसका महत्व है।

दर्शन - पक्ष

जीवाजीवाभिगम आगम का दशन पक्ष इतना भर है कि वहा जीव और अजीव तत्त्व को नाना भेद-प्रभेदो से परिलक्षित किया गया है। प्रथम प्रतिपत्ति मे कहा गया है, ससारी जीव दो प्रकार के होते है—त्रस और स्थावर। स्थावर जीव तीन प्रकार के होते है—पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय। वादर वनस्पतिकाय वारह होते

---

१ ज्ञान, निश्चिति, अवाप्ति।

हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पवग (ईख आदि), तृण, वलय (कदली आदि जिनकी त्वचा गोलाकार हो), हरित (हरियाली), औषधि, जलरुह (पानी मे पैदा होने वाली वनस्पति), कुहण (पृथ्वी को भेद कर पैदा होने वाला वृक्ष)। साधारणशरीर बादर वनस्पति कायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं। त्रस जीव तीन प्रकार के होते हैं—तेजस्काय, वायुकाय और औदारिक त्रस। औदारिक त्रस चार प्रकार के होते हैं—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाच इन्द्रिय वाले। पचेन्द्रिय चार प्रकार के होते हैं—नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव। नरक सात होते हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा। तिर्यच तीन प्रकार के होते हैं—जलचर, थलचर और नभचर। जलचर पाच प्रकार के होते हैं—मत्स्य, कच्छप, मकर, ग्राह और शिशुमार। थलचर जीव चार प्रकार के होते हैं एक खुर, दो खुर, गण्डीपय और सणप्पय (सनखपद)। नभचर जीव चार प्रकार के होते हैं—चम्मपक्खी, लोमपक्खी, समुग्गपक्खी और विततपक्खी। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं-सम्मूर्च्छिम और गर्भोत्पन्न। देव चार प्रकार के होते हैं—भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

प्रस्तुत आगम मे दर्शन पक्ष की अपेक्षा व्यवहार पक्ष का दिग्दर्शन ही अधिक व्यवस्थित मिलता है। नाना वस्तुओ के प्रकार जिस सुयोजित ढग से बताये गये हैं, सचमुच ही उस काल का सजीव ब्यौरा देने वाले हैं—तीसरी प्रतिपत्ति मे वे सम्मुलेख इस प्रकार हैं—

रत्न—रत्न वज्र, वैडूर्य, लोहित, मसारगल्ल, हस गर्भ, पुलक, सौगधिक, ज्योतिरस, अजन, अजनपुलक, रजत, जातरूप, अक, स्फटिक, अरिष्ट।

अस्त्र-शस्त्र—मुद्गर, मुसु ढि, करपत्र (करवत), असि, शक्ति हल, गदा, मूसल चक्र, नाराच, कु त, तोमर, शूल, लकुट, भिडिपाल।

धातु—लोहा, तावा, त्रपुस, सीसा, रूप्य, सुवर्ण, हिरण्य, कुम्भकार की अग्नि, ईट पकाने की अग्नि, कवेलु पकाने की अग्नि, यन्त्रपाटक, चुल्ली, (जहा गन्ने का रस पकाया जाता है)।

मद्य—चन्द्रप्रभा (चन्द्र के समान जिसका रग हो), मणिशलाका, वरसीधु, वरवारुणी, फलनियसिसार, (फलो के रस से तयार

की हुई मदिरा), पत्र निर्यासंसार, पुष्पनिर्यासंसार चोयनिर्यासंसार, बहुत द्रव्यों को मिलाकर तैयार की हुई संध्या के समय तैयार हो जाने वाली, मधु, मेरक रिष्ट नामक रत्न के समान वर्णवाली (इसे जम्बूफलकालिका भी कहा गया है) दुग्ध जाति (पीने में दूध के समान स्वादिष्ट), प्रसन्ना, नेल्लक (अथवा तल्लक), शतायु (सौ बार शुद्ध करने पर भी जैसी की तैसी रहने वाली), खर्जूरसार, मृद्वीकासार (द्राक्षासव) कापिशायन, सुपक्व, क्षोदरस (ईख के रस को पकाकर बनाई हुई)।

पात्र—वारक (मंगल घट), घट, करक, कलश, कक्करी, पादकांचनिका (जिससे पैर धोये जाते हों), उदंक (जिससे जल का छिड़काव किया जावे), वद्धणी (वार्धनी—गलंतिका—छोटी कलसी जिसमें से पानी रह रह कर टपकता हो) सुपविट्ठर (पुष्प रखने का पात्र) पारी (दूध दोहने का पात्र), चषक (सुरा पीने का पात्र), भृंगार, (झारी), करोडी (करोटिका), सरग (मदिरापात्र), धरग, पात्रीस्थाल, णत्थग, (नल्लक), चवलिय (चपलित), अवपदय।

आभूषण—हार (जिसमें अठारह लड़िया हो), अर्धहार (जिसमें नौ लड़िया हो), वट्टणग (वेस्टनक, कानों का आभूषण), मुकुट कुण्डल, वामुत्तग (व्यामुक्तक, लटकने वाला गहना), हेमजाल (छेद वाला सोने का आभूषण), मणिजाल, कनकजाल, सूत्रक (वैकक्षक कृत) सुवर्ण सूत्र (यज्ञोपवीत की तरह पहना जाने वाला आभूषण), उचियकडग (उचितकटिकानि—योग्यवलयानि), खुडडग (एक प्रकार की अंगूठी) एकावली, कण्ठसूत्र, मगरिय (मकर के आकार का आभपण), उरत्थ (वक्षस्थल पर पहनने का आभूषण), ग्रैवेयक, (ग्रीवा का आभूषण), श्रोणिसूत्र (कटिसूत्र), चूडामणि, कनकतिलक, फुल्ल, (फूल), सिद्धार्थक (सोने की कण्ठी), कण्णवाली (कानों की बालि), शशि सूर्य वृषभ, चक्र (चक्र), तलभंग (हाथ का आभूषण), तुडिय (बाहु का आभूषण) हत्थमालग (हस्तमालक), वलक्ष (गले का आभूषण) दीनारमालिका, चन्द्रसूर्यमालिका, हर्षक, केयूर, वलय, प्रालम्ब (झूमका), अंगुलीयक (अंगूठी), काची, मेखला, पयरा

(प्रवर), पादजाल (पैरो का आभूषण), घटिका किंकिणी, रयणारु-जाल (रत्नोरुजाल) नूपुर चरणमालिका, कनकनिकरमालिका।

भवन—प्राकार, अट्टालग (अटारी), चरिय (गृह और प्राकार के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर, प्रासाद, आकाशतल, मण्डप एक-शाला (एक घरवाला मकान), द्विशाला, त्रिशाला, चतु शाला, गर्भगृह, मोहनगृह, वलभीगृह, चित्रशाला, मालक (मजले वाला घर) गोल-घर, त्रिकोण घर चौकोण घर, नदावर्त, पण्डुरतलहर्म्य, मुडमालहर्म्य (जिसमे शिखर न हो), धवलगृह, अर्धमागध विभ्रम, शैलसस्थित (पर्वत के आकार का), शैलार्धसस्थित, कूटागार, सुविधिकोष्ठक, शरण (झोपडी आदि), लयन (गुफा आदि), विडक (कपोतपाली, प्रासाद के अग्रभाग मे कबूतरो के रहने का स्थान, कबूतरो का दरबा) जालवृन्द (गवाक्षसमूह) निर्यूह (खूटी अथवा द्वार), अपवरक (भीतर का कमरा), दोवाली, चन्द्रशालिका।

वस्त्र—आजिनक (चमडे का वस्त्र), क्षौम, कम्बल, दुकूल, कौशेय, कालमृग के चर्म से बना वस्त्र, पट्ट, चीनाशुक, आभरणचित्र (आभूषणो से चित्रित), सहिणगकल्लाणग (सूक्ष्म और सुन्दर वस्त्र) तथा सिंधु, द्रविड, वग, कलिंग आदि देशो मे बने वस्त्र।

मिष्टान्न—गुड खाड, शक्कर, मत्स्यण्डी (मिसरी), विसकद, पर्पटमोदक, पुष्पोत्तर, पद्मोत्तर, गोक्षीर।

ग्राम—ग्राम, नगर, निगम (जहा बहुत मे वणिक रहते हो), खेट (जिसके चारो ओर मिट्टी का परकोटा बना हो), कर्वट (जो चारो ओर मे पर्वत से घिरा हो), मडव (जिसके चारो ओर पाच कोस तक कोई ग्राम न हो), पट्टण (जहा विविध देशो से माल आता हो), द्रोणमुख (जहा अधिकतर जलमार्ग से आते जाते हो), आकर (जहाँ लोहे आदि की खानें हो), आश्रम, सवाध (जहा यात्रा के लिए बहुत से लोग आते हो), राजधानी सनिवेश (जहा सार्थ आकर उतरते हो)।

राजा—राजा युवराज ईश्वर (अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यो से सम्पन्न) तलवर (नगर रक्षक, कोतवाल) माडम्बिय (मडम्ब के

नायक), कौटुम्बिक (अनेक कुटुम्बो के आश्रयदाता राजसेवक) इभ्य (प्रचुर धन के स्वामी), श्रेष्ठी (जिनके मस्तक पर देवता की मूर्ति सहित सुवर्ण पट्ट बधा हो), सेनापति, सार्थवाह (साथ का नेता)।

दास—दास (आमरण दास), प्रेष्य (जो किसी काम के लिए भेजे जा सके) शिष्य भृतक (जो वेतन लेकर काम करते हो), भाइल्लग (भागीदार), कमकर।

त्यौहार—आवाह (विवाह के पूर्व ताम्बूल इत्यादि देना) विवाह यज्ञ (प्रतिदिन इष्ट देवता की पूजा) श्राद्ध, थालीपाक (गृहस्थ का धार्मिक कृत्य), चेलोपनयन (मुण्डन) सीमंतोन्नयन (गर्भ स्थापना), मृतपिंडनिवेदन।

उत्सव—इन्द्रमह, स्कन्दमह रुद्रमह शिवमह वैश्रमणमह मुकुन्दमह नागमह यक्षमह भूतमह कूपमह, तडागमह नदीमह ह्रदमह, पर्वतमह वृक्षारोपणमह चैत्यमह स्तूपमह।

नट—नट (बाजीगर), नर्तक, मल्ल (पहलवान), मौष्टिक (मुष्टि युद्ध करने वाले) विडम्बक (विदूषक), कहग (कथाकार), प्लवग (कूदने-फादने वाले) आख्यायक, लासक (रास गाने वाले), लख (बास के उपर चढकर खेल करने वाले), मख (चित्र दिखाकर भिक्षा मागने वाले), तूण बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, कावण (बहगी ले जाने वाले) मागध, जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले)।

यान—शकट, रथ, यान (गाडी) जुग्ग (गोल्ल देश मे प्रसिद्ध दो हाथ प्रमाण चौकोर वेदी से युक्त पालकी, जिसे दो आदमी ढोकर ले जाते हो) गिल्ली (हाथी के उपर की अम्बारी, जिसमे बैठने से आदमी दिखाई नही देता) थिल्ली (लाट देश मे घोडे के जीन को थिल्ली कहते हैं कही दो खच्चरो की गाडी को थिल्ली कहा जाता है), शिविका (शिखर के आकार की ढकी हुई पालकी), स्यन्दमानी (पुरुष प्रमाण लम्बी पालकी)।

व्याख्या साहित्य

आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीका की रचना की। उन्होंने इस उपांग के अनेक स्थानो पर वाचना भेद होने का उल्लेख किया

है। साथ साथ यह भी सूचित किया है कि इसके सूत्र विच्छिन्न हो गये। आचार्य हरिभद्र तथा देवसूरि द्वारा लघु वृत्तियों की रचना की गई। एक अप्रकाशित चूर्णि भी बतलाई जाती है।

४ पन्नवणा (प्रज्ञापना)

नाम अर्थ

प्रज्ञापना का अर्थ बतलाना, सिखलाना या ज्ञापित करना है। इस उपांग का नाम वस्तुत अन्वर्थक है। यह जैन तत्त्व ज्ञान का उत्कृष्ट उद्बोधक ग्रन्थ है। यह प्रज्ञापना, स्थान, बहु-वक्तव्य, क्षेत्र, स्थिति पर्याय, श्वासोच्छ्‌वास, सज्ञा, योनि, भाषा, शरीर, परिणाम, कषाय इन्द्रिय प्रयोग लेश्या काय-स्थिति, दृष्टि, क्रिया कर्म-बन्ध कर्म-स्थिति कर्म-वेदना कर्म प्रकृति आहार उपयोग सज्ञी अवधि, परिचारणा वेदना-परिणाम समुद्‌घात प्रभृति छत्तीस पदो मे विभक्त है।

पदो के नाम से स्पष्ट है कि इसमे जैन सिद्धान्त के अनेक महत्वपूर्ण पक्षो पर विवेचन हुआ है जो तत्त्वज्ञान के परिशीलन की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। उपांगो मे यह सर्वाधिक विशाल है। अंगो मे जो स्थान व्याख्याप्रज्ञप्ति का है, उपांगो मे वैसा ही स्थान इस आगम का है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की तरह इसे भी जैन तत्त्वज्ञान का वृहत् कोश कहा जा सकता है।

रचना

ऐसा माना जाता है कि वाचकवंशीय आर्य श्याम ने इसकी रचना की। वे अंगज्ञात पूर्वधर माने जाते थे। अज्ञातकर्तृक दो गाथाएं[1] प्राप्त होती हैं जिनसे ये तथ्य पुष्ट होते हैं। उनका आशय

---

१ वायगवरवसाम्रो तेवीसइमेण धीरपुरिसेण।
दुद्धरधरेण मुणिणा पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीण।
सुयसागरविणेऊण, जेण सुयरयणमुत्तम दिण्णं।
सीसगणस्स भगवम्रो तस्स णमो अज्जसामस्स॥
—अमोलक ऋषि द्वारा अनूदित प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम भाग, पृ २,

इस प्रकार है "वाचकवंशीय, आर्य सुधर्मा की तेवीसवीं पीढी में स्थित धैर्यशील, पूर्वश्रुत में समृद्ध, बुद्धि-सम्पन्न आर्य श्याम को वन्दन करते हैं जिन्होंने श्रुत ज्ञान रूपी सागर में से अपने शिष्यों को यह (प्रज्ञापना) श्रुत रत्न प्रदान किया।"

आर्य श्याम के आर्य सुधर्मा से तेवीसवीं पीढी में होने का जो उल्लेख किया है वह किस स्थविरावली या पट्टावली के आधार पर, किया गया है ज्ञात नहीं होता। नन्दी-सूत्र में वर्णित स्थविरावली में श्याम नामक आचार्य का उल्लेख तो है पर वे सुधर्मा से प्रारम्भ होने वाली पट्टावली में बारहवें होते हैं।[1] तेवीसवें स्थान पर वहां ब्रह्मदीपकसिंह नामक आचार्य का उल्लेख है। उन्हें कालिक श्रुत तथा चारों अनुयोगों का धारक व उत्तम वाचक-पदप्राप्त[2] कहा है। कल्पसूत्र की स्थविरावली से आर्य श्याम की क्रमिक संख्या मेल नहीं खाती।

रचना का आधार : एक कल्पना

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में लेखक की ओर से स्तवनात्मक दो गाथायें हैं जो महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं 'सूत्र रत्नों के निधान, भव्यजनों के लिए निर्वृत्तिकारक भगवान् महावीर ने सब जीवों के भावों की प्रज्ञापना उपदिष्ट की। भगवान् ने दृष्टिवाद से निर्झरित

---

१ सुहम्मं अग्गिवेसाणं जंबूनामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा॥
जसभद्दं तुंगीयं वंदे संभूयं चेव माढरं।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च।
तत्तो कोसियगोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे॥
हारियगोत्तं सायं च, वंदे मोहारियं च सामज्जं।
—नन्दीसूत्र स्थविरावली गाथा २५-२८

२ अयलपुरम्मि खेत्ते, कालियसुय अणुओगे धीरे।
बंभद्दीवगसीहे वायगपयमुत्तमं पत्ते॥
—नन्दीसूत्र, स्थविरावली गाथा ३६

विविध अध्ययनयुक्त इस श्रुत-रत्न का जिस प्रकार विवेचन किया है, मैं भी उसी प्रकार करूंगा।[1]

इन गाथाओं मे प्रयुक्त 'दिट्ठिवायणीसद' पद पर विशेष गौर करना होगा। दृष्टिवाद व्युच्छिन्न माना जाता है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् उसके सम्पूर्ण वेत्ताओं की परम्परा मिट गई। पर अंशतः वह रहा। श्यामार्य के सम्बन्ध मे जिन दो वन्दन-मूलक गाथाओं की चर्चा की गई है, वहां उन्हे पूर्व-ज्ञान से युक्त भी कहा गया है। सम्भवतः आर्य श्याम आंशिक दृष्ट्या पूर्वज्ञ रहे हों। हो सकता है, इसी अभिप्राय से उन्होंने यहां दृष्टिवाद-निस्यन्द शब्द जोड़ा हो, जिसका आशय रहा हो कि दृष्टिवाद के मुख्यतम भाग पूर्व ज्ञान से इसे गृहीत किया गया है।

प्रस्तुत आगम मे वर्णित वनस्पति आदि के भेद-प्रभेद बहुत ही विस्तृत व विशेष हैं। भेद प्रभेदों के इसी क्रम मे म्लेच्छों व आर्यों का भी उल्लेखनीय चित्रण है।

म्लेच्छ

शक, यवन चिलात (किरात), शबर, बबर, मरुड उड्ड (ओड) भडग, निण्णग पक्कणिय, कुलक्ख, गोड, सिंहल, पारस, गोध, कोच अंध दमिल (द्रविड), चिल्लल, पुलिंद हरोस, डोंब, बोक्कण, गंधहारग बहलीक उज्भल (जल्ल), रोमपास बकुश, मलय, बंधुय, सूयलि, कोंकणग, मेय, पह्लव, मालव मग्गर, आभासिय, आणक्ख, चीण, लासिक, खस, खासिय, नेहुर, मोढ डोंबिलग, लओस, पओस, केकय, अक्खाग हूण, रोमक, रुरु, मरुय आदि।

आर्य

आर्य दो प्रकार के होते हैं—ऋद्धि-प्राप्त और अनृद्धि प्राप्त। ऋद्धि प्राप्त—अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण और विद्या-

[1] सुयरयणनिहाणं जिणवरेण भवियणनिव्वुइकरेण।
उवदंसिया भगवया, पण्णवणा सव्वभावाणं ॥
अज्झयणमिणं चित्तं सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं।
जहवण्णियं भगवया अहमवि तह वण्णइस्सामि ॥
—प्रज्ञापना मंगलाचरण, २ ३

घर। अनृद्धि प्राप्त नौ प्रकार के होते हैं--क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य।

क्षेत्रार्य--साढे पच्चीस (२५½) देश मे माने जाते हैं

जनपद	राजधानी
१ मगध	राजगृह
२ अग	चम्पा
३ वग	ताम्रलिप्ति
४ कलिंग	काचनपुर
५ काशी	वाराणसी
६ कोशल	साकेत
७ कुरु	गजपुर
८ कुशावर्त	शौरिपुर
९ पाचाल	कापिल्यपुर
१० जागल	अहिच्छत्रा
११ सौराष्ट्र	द्वारवती
१२ विदेह	मिथिला
१३ वत्स	कौशाम्बी
१४ शाण्डिल्य	नन्दिपुर
१५ मलय	भद्रिलपुर
१६ मत्स्य	वैराट
१७ वरणा	अच्छा
१८ दशार्ण	मृत्तिकावती
१९ चेदि	शुक्ति
२० सिन्धुसौवीर	वीतिभय
२१ शूरसेन	मथुरा
२२ भगि	पापा
२३ वट्टा (?)	मासपुरी (?)
२४ कुणाल	श्रावस्ती
२५ लाढ	कोटिवर्ष
२५½ केकयीअर्ध	श्वेतिका

जात्याय—अम्बष्ठ कलिंद, विदेह वेदग हरित, चुंचुण (या तुतुण)।

कुलाय—उग्र, भाग, राजन्य इक्ष्वाकु ज्ञात, कौरव।

कर्मार्य—दौष्यिक (कपडे वेचने वाले), सौनिक (सूत वेचने वाले), कार्पासिक (कपास बेचने वाले) सूत्रवैकालिक भाडवैकालिक कालालिय (कुम्हार) नरवाहनिक (पालकी आदि उठाने वाले)।

शिल्पार्य—तुन्नाग (रफू करने वाले), तन्तुवाय (बुनने वाले), पटकार (पटवा) देयडा (दृतिकार मशक बनाने वाले), काष्ठपादुकाकार (लकडी की पादुका बनाने वाले) मजुपादुकाकार छत्रकार वज्झार (वाहन करने वाले), पोत्थकार (पूछ के बालो से झाडू आदि वेचने वाले अथवा मिट्टी के पुतले बनाने वाले), लेप्यकार चित्रकार, शखकार दतकार भाडकार, जिज्भगार सेल्लगार (माला बनाने वाले), कोडिगार (कोडियो की माला बनाने वाले)।

भाषाय—अर्धमागधी भाषा बोलने वाले।

ब्राह्मी लिपी लिखने के प्रकार—ब्राह्मी, यवनानी, दोसापुरिया, खरोष्ट्री, पुक्खरसारिया, भोगवती, पहराइया अतक्खरिया, (अताक्षरी) अक्खरपुट्ठिया, वैनयिकी, निह्नविकी, अकलिपि, गणितलिपि, आदशलिपि, माहेश्वरी, दोमिलिपि (द्राविडी), पौलिन्दी।

ज्ञानाय पाच प्रकार के हैं—आभिनिबोधिक श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

दर्शनार्य—सरागदर्शन, वीतराग दर्शन। सराग दर्शन—निसर्ग रुचि उपदेश रुचि, आज्ञा रुचि, सूत्र रुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि विस्तार रुचि, क्रिया रुचि सक्षेप रुचि धर्म रुचि। वीतराग दर्शन—उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय।

चारित्राय—सराग चारित्र वीतराग चारित्र। सराग चारित्र—सूक्ष्मसम्पराय, वादर सम्पराय। वीतराग चारित्र—उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय। अथवा चारित्रार्य पाच होते हैं—सामायिक, छेदोपस्थान परिहार विशुद्धि सूक्ष्मसम्पराय यथाख्यात चारित्र।

व्याख्या-साहित्य

आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रदेशाख्या लघुवृत्ति की रचना की है। आचार्य मलयगिरि ने उसी के आधार पर टीका की रचना की। कुलमण्डन ने अवचूरि लिखी।

व्याख्याकारों ने इस आगम में समागत पाठ भेदों का भी उल्लेख किया है। अनेक स्थलों पर कतिपय शब्दों को अव्याख्येय मानते हुए टीकाकार ने उन्हें सम्प्रदायगम्य कहकर छोड़ दिया है। सम्भव है, वे शब्द स्पष्टार्थ-द्योतक नहीं प्रतीत हुए हों अत आम्नाय या परम्परा से समझ लेने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता था? प्रज्ञापना का ग्यारहवां पद भाषा पद है। उपाध्याय यशोविजयजी ने इसका विवेचन किया है।

५ सूरियपन्नत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)

द्विसूर्यसिद्धान्त, सूर्य के उदय, अस्त, आकार ओज गति आदि का विस्तार से वर्णन है जिससे इसके नाम की अन्वर्थकता प्रकट होती है। साथ ही साथ चन्द्र, अन्यान्य नक्षत्र आदि के आकार गति, अवस्थिति आदि का भी विशद विवेचन है। बीस प्राभृतों में विभक्त यह ग्रन्थ एक सौ आठ सूत्रों में सन्निविष्ट है। प्राभृत प्राकृत के 'पाहुड' शब्द का संस्कृत रूपान्तर है।

प्राभृत का अर्थ

अनेक ग्रन्थों व अध्याय या प्रकरण के अर्थ में प्राभृत शब्द प्रयुक्त पाया जाता है। इसका शाब्दिक तात्पर्य उपहार, भेंट या समर्पण है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसकी व्याख्या इस प्रकार है "अपने अभीष्ट—प्रिय जन को जो परिणाम सरस देश कालोचित दुर्लभ वस्तु दी जाती है और जिससे प्रिय जन की चित्त प्रसन्नता आसादित की जाती है, लोक में उसे प्राभृत कहा जाता है।"[१]

---

१ उच्चते—इह प्राभृत नाम लोके प्रसिद्ध यदभीष्टाय पुरुषाय देश कालोचित दुर्लभ वस्तु परिणामसुन्दरमुपनीयते तत प्राभ्रियते प्राप्यते चित्तमभीष्टस्य पुरुषस्यानेनेति प्राभृतमिति व्युत्पत्ते।

—अभिधान राजेन्द्र पचम भाग, पृ ६१४

ग्रन्थ के प्रकरण के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या इस प्रकार है "अपने प्रिय तथा विनय आदि गुण-युक्त शिष्यों को देश और काल की उचितता के साथ जो ग्रन्थ सरणियां दी जाती हैं, उन्हें भी प्राभृत कहा जाता है।"[1] शब्द चयन में जैन विद्वानों के मस्तिष्क की उर्वरता इससे स्पष्ट है। प्रकरण के ग्रथ में प्राभृत शब्द वास्तव में साहित्यिक सुषमा लिये हुए है।

व्याख्या-साहित्य

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने इस पर नियुक्ति की रचना की, ऐसा प्रसिद्ध है। पर, वह प्राप्त नहीं है, काल कवलित हो गई है। आचार्य मलयगिरि की इस पर टीका है। वास्तव में यह ग्रन्थ इतना दुर्ज्ञेय है कि टीका की सहायता के बिना समझ पाना सरल नहीं है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि से सम्बद्ध अपने विशेष प्रकार के विश्लेषण के कारण यह ग्रन्थ विद्वज्जगत् में आकर्षण का केन्द्र रहा है। प्रो० वेबर ने जर्मन भाषा में इस पर एक निबन्ध लिखा, जो सन् १८६८ में प्रकाशित हुआ। सुना जाता है, डा० आर० शाम शास्त्री ने इसका A Brief Translation of Mahavira's Suryaprajnapti के नाम से अंग्रेजी में संक्षिप्त अनुवाद किया था। पर, वह भी अप्राप्य है। डा० थीबो ने सूर्यप्रज्ञप्ति पर लेख लिखा था जिसमें उन्होंने जैनों के द्विसूर्य और द्विचन्द्रवाद की भी चर्चा की थी। उनके अनुसार यूनान के लोगों में उनके भारत आने के पूर्व यह सिद्धान्त सर्व स्वीकृत था। Journal of The Asiatic Society of Bengal Vol no 49, P 107 में वह लेख प्रकाशित हुआ था।

६ जम्बूद्दीवपन्नत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)

जम्बूद्वीप से सम्बद्ध इस उपांग में अनेकविध वर्णन हैं। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध चार वक्षस्कारों तथा उत्तरार्द्ध तीन वक्षस्कारों में विभक्त हैं। समग्र उपांग में १७६ सूत्र हैं।

---

१ विवक्षिता अपि च ग्रन्थपद्धतय परमदुर्लभा परिणामसुन्दराश्चाभीष्टेभ्यो विनयादिगुणकलितेभ्य शिष्यम्या देशकालौचित्येनोपनीयन्ते।

—अभिधान राजेन्द्र, पञ्चम भाग पृ ९१४

वक्षस्कार का तात्पर्य

वक्षस्कार का अर्थ यहा प्रकरण को बोधित कराता है। पर, वास्तव म जम्बूद्वीप मे इस नाम के प्रमुख पवत है जिनका जन भूगोल मे कई अपेक्षाओ से बडा महत्व है। जम्बूद्वीप से सम्बद्ध विवेचन के सन्दर्भ मे ग्रन्थकार प्रकरण का अवबोध कराने के हेतु वक्षस्कार का जो प्रयोग करते हैं, वह सवथा सगत है। जम्बूद्वीपस्थ भरत क्षेत्र आदि का इस उपाग मे विस्तृत वणन है। उनके स दभ मे अनेक दुगम स्थल, पहाड, नदो, गुफा, जगल आदि की चर्चा है।

जैन काल-चक्र अवसर्पिणी-सुषम सुषमा सुषमा सुषम-दु षमा, दु षम-सुषमा, दु षमा, दु षम-दु षमा तथा उत्सर्पिणी—दु षम दुषमा, दुषमा, दु षम-सुषमा, सुषम-दु षमा, सुषमा सुषम सुषमा का सविस्तार वणन है। उस सन्दर्भ मे चौदह कुलकर आदि, तीथ कर ऋषभ बहत्तर कलायें, स्त्रियो के लिये विशेषत चौसठ कलायें तथा अनेक शिल्प आदि की चर्चा है। इस कोटि का और भी महत्त्वपूण वणन है। जैन भूगोल तथा प्रागितिहास-कालीन भारत के अध्ययन की दृष्टि से जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का विशेष महत्त्व है।

७ चन्दपन्नत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)

स्थानाग मे उल्लेख

स्थानाग सूत्र[1] मे सूयप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति के साथ चन्द्रप्रज्ञप्ति का भी अ ग बाह्य के रूप म उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि सूयप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति दोना प्राचीन ह। दोना कभी पृथक् पृथक् थे, दोना के अपने अपने विषय थे।

वतमान मे चन्द्रप्रज्ञप्ति का जो सस्करण प्राप्त ह, वह सूय-प्रज्ञप्ति मे सवथा—अक्षरश मिलता है। भेद है तो केवल मगलाचरण तथा ग्रन्थ मे विवक्षित बीस प्राभृतो का सक्षेप मे वणन करने वाली अठारह गाथाओ का। चन्द्रप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ मे य गाथायें ह।

---

१ चत्तारि पण्णत्तीओ अ गबाहिरियाओ पण्णत्ताओ, त जहा—चन्दपण्णत्ती, सूरपण्णत्ती जबूद्दीवपण्णत्ती, दीवसागरपण्णत्ती।

—स्थानाग सूत्र स्थान ४,१,४७

तत्पश्चात् क्रम निर्दिष्ट विषय प्रारम्भ होता है। सूयप्रज्ञप्ति मे ये गाथायें नही हैं अर्थात् मगलाचरण तथा विवक्षित विषय सूचन के बिना ही ग्रथ प्रारम्भ होता है, जो आद्योपान्त चन्द्रप्रज्ञप्ति जसा है। वास्तव मे यदि ये दो ग्रथ है, तो ऐसा क्यो ? यह एक प्रश्न है, जिसका अनेक प्रकार से समाधान किया जाता है।

रहस्यमय एक समाधान

प्रतिपरम्परावादी धार्मिक, जिन्हे स्वीकृत मा यता की परिधि से बाहर निकल कर जरा भी सोचने का अवकाश नही है, सूयप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति क परिपूण पाठ-साम्य को देखते हुए भी आज भी यह मानने को तयार नही होते कि ये दो ग्रथ नही है। उनका विचार है कि सूय, चन्द्र, कतिपय नक्षत्र आदि की गति क्रम आदि से सम्बद्ध कई ऐसे विषय हैं, जो प्रवृत्तित एक समान हैं, अत उनमे तो भेद की कोई बात ही नही है। एक जैसे दोनो वर्णन दोनो स्थानो पर लागू होते हैं। अनेक विषय ऐसे हैं, जो दोनो मे भिन्न भिन्न है यद्यपि उनकी शब्दावली एक है। एक ही शब्द के अनेक अथ होते है। सामा यत प्रचलित अथ को ही लोग अधिकाधत जानते है। अप्रचलित अथ प्राय अज्ञात रहता है। बहुत कम व्यक्ति उसे समझते है। यहा कुछ ऐसा ही हुआ प्रतीत होता है।

वास्तव मे दोना उपागा मे प्रयुक्त एक जसे शब्द भि नाथक है। ऐसा किये जान के पीछे भी एक चि तन रहा होगा। बहुत से विषय ऐस हैं, जिनका उदघाटन सही अधिकारी या उपयुक्त पात्र के समक्ष ही किया जाता है अनधिकारी या अपात्र के समक्ष नही, अत उन्हे रहस्यमय या गुप्त बनाये रखना आवश्यक होता ह। अधिकारी को उन्ही शब्दो द्वारा वह ज्ञान दे दिया जाता है, जिनका अथ सामा यत व्यक्त नही है। ऐसी ही कुछ स्थिति यहा रही हो तो आश्चय नही। कभी परम्परा से इन रहस्यो को जानने वाले विद्वान् रह होगे, जो अधिकारी पात्रा के समक्ष उन रहस्या को प्रकाशित करत रह हो। पर वह परम्परा सम्भवत मिट गई। रहस्य रहस्य ही रह गये। यही कारण है इन दोनो उपागो के सम्बन्ध मे इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते है। वास्तव मे वतमान मे ज्ञान के अल्पत्व के कारण

ऐसा है। तथ्य यही है दोनो उपाग, जो वर्तमान मे उपलब्ध हैं, यथा वत् हैं अपरिवर्तित हैं। उन्हें भिन्न भिन्न ही माना जाना चाहिये।

कहने को स्वीकृत परम्परा के संरक्षण के हेतु जो कुछ कहा जा सकता है पर विवेक के साथ उसकी यथार्थता का अकन करने का प्रबुद्ध मानव को अधिकार है। इसलिये यह कहना परम्परा का खण्डन नही माना जाना चाहिए कि रहस्यमयता और शब्दो की अनेकार्थकता का सहारा पर्याप्त नही है जो इन दोनो उपागो के ऐक्य या असादृश्य को सिद्ध कर सके। अधिक युक्तिया उपस्थित करने की आवश्यकता नही है। विज्ञजन उन्मुक्त भाव से चिन्तन करेंगे तो ऐसा सम्भव प्रतीत होगा कि उनमे से अधिकाश को किसी रहस्यमयता तथा शब्दो के बहुार्थकता मूलक समाधान से तुष्टि नही होगी। यह मानने मे कोई अयथाभाव प्रतीत नही होना चाहिए कि वर्तमान में उपलब्ध ये दोनो उपाग स्वरूपत शाब्दिक दृष्टि से एक हैं और तात्पर्यत भी दो नही प्रतीत होते।

एक सम्भावना

हो सकता है, कभी प्राचीन काल मे कही किसी ग्रन्थ भण्डार मे सूर्यप्रज्ञप्ति की दो हस्तलिखित प्रतिया पडी हो। उनमें से एक प्रति ऊपर के पृष्ठ व उस पर लिखित 'सूर्यप्रज्ञप्ति' नाम सहित रही हो तथा दूसरी का ऊपर का पत्र—नाम का पत्र नही रहा हो, नष्ट हो गया हो, खो गया हो। नामवाली प्रति मे भी प्रारम्भ का पत्र, जिसमे मागलिक व विषयसूचक गाथाओ का उल्लेख था, खोया हुआ हो। अर्थात् अब दोनो प्रतियो का स्वरूप इस प्रकार समझा जाना चाहिए। उन दोनो प्रतियो मे एक प्रति ऐसी थी जिसका ऊपर का पृष्ठ था, उस पर ग्रन्थ का नाम था, पर, उसमे गाथायें नही थी। ग्रन्थ का विषय सीधा आरम्भ होता था। गाथाओ का पत्र लुप्त था। दूसरी प्रति इस प्रकार की थी, जिसमे ऊपर का पृष्ठ, ग्रन्थ का नाम नही था। ग्रन्थ का प्रारम्भ गाथाओ मे होता था। दोनो मे केवल भेद इतना-सा था, एक गाथाओ से युक्त थी, दूसरी मे गाथाए नही थी, पर आपातत देखने पर दोनो का प्रारम्भ भिन्न लगता था, इससे इस विषय को नही समझने वाले व्यक्ति के लिए असमजसता हो

सकती थी। किसी व्यक्ति ने भण्डार में ग्रन्थो को व्यवस्थित करने हेतु या सूची बनाने के हेतु ग्रन्थों की छान-बीन की हो। जैन अग, उपांगो आदि के पर्यवेक्षण के सन्दर्भ में ये दोनों प्रतियां उसके सामने आयी हों। नाम सहित प्रति के सम्बन्ध में तो उसे कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि वह नाम भी स्पष्ट था और ग्रन्थारम्भ भी। ऊपर के पत्र से रहित, बिना नाम की प्रति के सम्बन्ध में उसे कुछ सन्देह हुआ हो, उसने ऊहापोह किया हो। सम्भवत वह व्यक्ति विद्वान न रहा हो। भण्डार की व्यवस्था या देख-रेख करने वाला मात्र हो, या ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने वाला साधारण पठित व्यक्ति रहा हो।

ऐसा सम्भव है कि प्रथम प्रति को जिसमें ग्रन्थ-नाम था, गाथाएं नहीं थी, प्रकरण प्रारम्भ से चालू होता था उसने यथावत् रहने दिया। दूसरी प्रति, जिस पर नाम नहीं था गाथाओं के कारण जो भिन्न ग्रन्थ प्रतीत होता था, के लिए उसने कल्पना की हो कि वह सम्भवत चन्द्रप्रज्ञप्ति हो और अपनी कल्पनानुसार वैसा नाम लगा दिया हो। वह ग्रन्थ को भीतर से देखता, गवेषणा करता, पाठ मिलाता, यह सब तो तब होता, जब वह एक अनुसन्धित्सु विद्वान् होता।

चन्द्रप्रज्ञप्ति का यथार्थ रूप तब तक सम्भवत नष्ट हो गया होगा, अत अन्यत्र कहीं उसकी सही प्रति मिल नहीं सकी हो और उसी प्रति के आधार पर, जिस पर नाम बतलाया गया था एक ही पाठ के ग्रन्थ दो नामों से चल पड़े हों चलते रहे हों। शताब्दियां बीतती गयी और एक ही पाठ के दो ग्रन्थ पृथक् पृथक् माने जाते रहे।

धर्म श्रद्धा भी देता है और विवेक भी। विवेक-शून्य श्रद्धा अचक्षुष्मती कही जाती है। पर, धर्म के क्षेत्र में वैसा भी होता है, जो आलोच्य है आदेय नहीं। अति श्रद्धा-पूर्ण मानस के बाहुल्य के कारण आगमवेत्ताओं में इस तथ्य को जानते हुए भी व्यक्त करने का उत्साह क्या होता ? जब लोगों के समक्ष यह स्थिति आई, तो अपनी मान्यता और परम्परा के परिरक्षण के निमित्त ऐसे तर्कों का, जिस ओर इंगित किया गया है जिन्हें तर्क नहीं तर्काभास कहा जा सकता है, सहारा लिया जाने लगा।

वतमान मे दो कहे जाने वाले उपागो का जो कलेवर है, उसे देखते हुए यह मानने मे धर्म की जरा भी विराधना या सम्यक्त्व का हनन नहीं लगता कि एक ही पाठ का दो ग्रथो के रूप मे स्वीकार करने की बात कुछ और गवेषणा, चिन्तन तथा परिशीलन की माग करती है, ताकि यथार्थ की उपलब्धि हो सके।

सख्या क्रम मे भिन्नता

उपागो के सख्या-क्रम मे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्र-प्रज्ञप्ति की स्थानापन्नता मे कुछ भेद है। वत्तीस आगम-ग्रन्थो के प्रथम हिन्दी अनुवादकर्ता श्री अमोलक ऋषि ने जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति को पाचवा, चन्द्र प्रज्ञप्ति को छठा तथा सूर्य प्रज्ञप्ति को सातवा उपाग माना है। विण्टरनित्ज का इस सम्बन्ध मे अभिमत है कि मूलत चन्द्र प्रज्ञप्ति की गणना सूर्यप्रज्ञप्ति मे पहिले की जाती रही है। विण्टरनित्ज यह भी मानते है कि चन्द्रप्रज्ञप्ति का आज जो रूप है, पहले वैसा नही था। उसमे इनमे भिन्न विषय थे। सख्या क्रम मे मैंने पाचवे स्थान पर सूर्यप्रज्ञप्ति, छठे स्थान पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा सातवे स्थान पर चन्द्रप्रज्ञप्ति को लिया है। कारण यह है जहा तक पता चलता है सूर्यप्रज्ञप्ति अपने यथावत् रूप मे विद्यमान है। अपने नाम के अनुरूप उसमे सूर्य सम्बन्धी वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है। चन्द्र का भी वर्णन है, पर विस्तार और विविधता मे उससे कम। चन्द्रप्रज्ञप्ति का वतमान सस्करण स्पष्ट ही मौलिकता की दृष्टि से आलोच्य है, अत इसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के पश्चात् लिया गया है। आचार्य मलय गिरि की इस पर टीका है।

पाच निरयावलिया

निरयावलिया (निरयावलिका) मे पाच उपागो का समावेश है जो इस प्रकार है

१ निरयावलिया या कप्पिया (कल्पिका)
२ कप्पवडसिया (कल्पावतसिका)
३ पुप्फिया (पुष्पिका)
४ पुप्फचूलिया (पुष्पचूलिका)
५ वण्हि दशा (वृष्णि दशा)

पहले कभी सम्भवत ये पाचो एक ही निरयावलिका सूत्र के रूप म रहे हो। पर, जब अंगो के समकक्ष उपाग भी बारह की सख्या में प्रतिष्ठित किये जाने अपेक्षित माने गये, तो उन्हे पाच उपागो के रूप म पृथक् पृथक् मानने की परम्परा चल पडी।

■ निरयावलिया (निरयावलिका) या कप्पिया (कल्पिका)

प्रस्तुत उपाग दश अध्ययनो मे विभक्त है जिनके नाम इस प्रकार है १. कालकुमार अध्ययन २ सुकालकुमार अध्ययन ३ महाकालकुमार अध्ययन ४ कृष्णकुमार अध्ययन ५ सुकृष्णकुमार अध्ययन ६ महाकृष्णकुमार अध्ययन ७ वीरकृष्णकुमार अध्ययन ८ रामकृष्णकुमार अध्ययन, ९ प्रियसेन कृष्णकुमार अध्ययन तथा १० महासेन कृष्णकुमार अध्ययन। जिन कुमारो के नाम मे ये अध्ययन हैं वे मगधराज श्रेणिक के पुत्र तथा कूणिक (अजातशत्रु) के भाई थे जो वैशाली गणराज्य के अधिनायक चेटक और कूणिक के बीच हुए सग्राम मे चेटक के एक एक बाण से क्रमश मारे गये।

विषय-वस्तु

प्रथम अध्ययन कृष्णकुमार के प्रसग से प्रारम्भ होता है। उसकी माता कालीदेवी कूणिक के साथ युद्ध म गये हुये अपने पुत्र के विषय म भगवान् महावीर से प्रश्न पूछती है। भगवान से यह जानकर कि वह युद्ध मे चेटक के कारण मे मारा गया है वह बहुत दु खित और शोकान्वित हो जाती है। कुछ यथावस्थ होने पर वापिस लौट जाती है। गणधर गौतम तब भगवान् महावीर से कालकुमार के अग्रिम भव और विगत भव के सम्बन्ध मे प्रश्न करते है। उसका भगवान महावीर जो उत्तर देते हैं उस सदर्भ म कूणिक—अजातशत्रु के जीवन का इतिवृत्त विस्तृत रूप मे उपस्थित हो जाता है। श्रेणिक की गर्भवती रानी चेलणा का पति के कलेजे के मास के तले हुए शोलो[1] तथा मदिरा का प्रसन्नतापूर्वक आस्वाद लेने का निघृण

[1] मूल पाठ में सालेहि' शब्द आया है, जिसका सस्कृत रूप शौल' होगा। शूल या काँटे से तले जाने के कारण उस प्रकार के मास के टुकडो को शौल कहा जाता होगा।

दोहद, अभयकुमार द्वारा बुद्धिमत्तापूवक उसकी पूर्ति, कूणिक का जन्म माता द्वारा उसे उत्कुरडी (घूरे) पर फिकवाया जाना, श्रेणिक द्वारा उसे वापिस लाया जाना, स्नेह पूवक पाला जाना, बडे होने पर कूणिक द्वारा पिता श्रेणिक को वन्दीगृह मे डाल राज सिंहासन हथियाया जाना श्रेणिक द्वारा दु खातिरेक से आत्म हत्या किया जाना, अपने छोटे भाई वेहल्लकुमार के कारण सेचनक हस्ती आदि न लौटाये जाने से वशाली गणराज्य के अधिपति चेटक पर कूणिक द्वारा चढाई किया जाना आदि का इस सन्दभ मे वर्णन आता है। रथमूसल तथा महाशिलाकटक सग्राम का वहा उल्लेख मात्र है। उस सम्बन्ध मे व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का सकेत कर दिया गया है।

दूसर अध्ययन की सामग्री केवल इतनी सी है— उस समय चम्पा नगरी थी। पूर्णभद्र चत्य था। कूणिक राजा था और पद्मावती उसकी रानी थी। वहा चम्पा नगरी मे पहले राजा श्रेणिक की भार्या कूणिक की कनिष्ठा माता सुकुमारागी सुकाली रानी थी। सुकाली देवी के सुकुमाराग सुकालकुमार हुआ। तीन सहस्र हाथियो को लिए युद्ध म गया हुआ कालकुमार जिस प्रकार मारा गया, उसी तरह का समग्र वृत्तान्त सुकालकुमार का भी है। अन्तत सुकालकुमार भी महाविदेह क्षत्र में ससार का अन्त करेगा—सिद्ध होगा।"[१] दूसरे अध्ययन का वृत्तान्त यहो समाप्त हो जाता है॥

---

१ तएण कालेण तेण समएण चपा णाम णयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए कूणिय राया, पउमावई देवी। तत्थण चपानयरीए सेणियस्स रण्णो अज्ज कोणियस्स रण्णो चुल्लमाउया सुकाली नाम देवी होत्था सुकुमाला। तीसेण सुकालीए देवीए पुत्ते सुकाले नामे कुमार

तीसरे से दसवें तक के अध्ययनों का वर्णन भी केवल इतनी-सी पंक्तियों में है "शेष आठों अध्ययनों को प्रथम अध्ययन के सदृश समझना चाहिए। पुत्रों और माताओं के नाम एक जैसे हैं। निरयावलिका सूत्र समाप्त होता है।"¹

९ कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका)

कल्पावतंस का अर्थ विमानवासी देव होता है। कल्पावतंसिका शब्द उसी से निष्पन्न हुआ है। इस उपांग में दस अध्ययन हैं, जिनमें राजा कौणिक के दस पौत्रों के संक्षिप्त कथानक हैं, जो स्वर्गगामी हुए। दस अध्ययनों के नाम चरित-नायक कुमारों के नामों के अनुरूप हैं, जैसे, १ पद्मकुमार अध्ययन, २ महापद्मकुमार-अध्ययन, ३ भद्रकुमार अध्ययन, ४ सुभद्रकुमार-अध्ययन, ५ पद्मभद्रकुमार अध्ययन, ६ पद्मसेनकुमार अध्ययन, ७ पद्मगुल्मकुमार-अध्ययन, ८ नलिनीगुल्मकुमार-अध्ययन, ९ आनन्दकुमार अध्ययन तथा १० नन्दकुमार अध्ययन।

दस कुमार निरयावलिका (कल्पिका) में वर्णित राजा श्रेणिक के कालकुमार आदि दसों पुत्रों के क्रमशः पुत्र थे। प्रथम अध्ययन में कालकुमार के पुत्र पद्मकुमार के जन्म, दीक्षा ग्रहण, स्वर्ग-गमन तथा अन्तत महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर सिद्धत्व प्राप्त करने तक का संक्षेप में लगभग चार पांच पृष्ठों में वर्णन है। दूसरे अध्ययन में सुकालकुमार के पुत्र महापद्म का संक्षिप्ततम विवरण है। केवल उसके जन्म के वृत्तान्त का पांच-सात पंक्तियों में सूचन कर आगे प्रथम अध्ययन की तरह समझ लेने का संकेत किया गया है। तीसरे अध्ययन से

[पूर्व पृष्ठ का शेष]

होत्था सुकुमाल। ततेणं स सुकाले कुमारे अन्नयाकयाइ तिहिं दंतिसहस्सेहिं जहा काल कुमारे निरविसेसं तहेव महाविदेहवासे अन्तं करेहिति।

—निरयावलिया द्वितीय अध्ययन पृ० ६३-६४

१ एवं सेसा वि अट्ठ अज्झयणा नायव्वा पढम सरिसा णवरं माताओ सरिसा णामा। णिरयावलीयाओ सम्मत्ताओ।

—निरयावलिया समाप्ति प्रसंग।

दशवें अध्ययन तक की सूचना केवल आधी पंक्ति में यह कहते हुए कि उन्हें प्रथम अध्ययन की तरह समझ लेना चाहिए, दे दी गयी है। साथ साथ यह भी सूचित किया गया है कि उनकी माताएं उनके सदृश नामों की धारक थी। अ त मे दशो कुमारो के दीक्षा पर्याय की भिन्न भिन्न समयावधि तथा भिन्न भिन्न देवलोक प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए उपाग का परिसमापन कर दिया गया है। यह उपाग बहुत सक्षिप्त हैं।

मगध भगवान् महावीर तथा बुद्ध के समय मे पूर्व भारत का एक प्रसिद्ध एकतन्त्रीय (एक राजा द्वारा शासित) राज्य था। कल्पिका तथा कल्पावतसिका प्रागितिहासकालीन समाज की स्थिति जानने की दृष्टि से उपयोगी हैं।

१० पुप्फिया (पुष्पिका)

प्रस्तुत उपाग मे दश अध्ययन हैं, जिनमे ऐसे स्त्री पुरुषो के कथानक हैं, जो धर्माराधना और तप साधना द्वारा स्वर्ग गये। अपने विमानो द्वारा वैभव, समृद्धि एव सज्जापूर्वक भगवान् महावीर को वन्दन करने आये।

तापस-वर्णन

तीसरे अध्ययन मे सोमिल ब्राह्मण के कथानक के सन्दर्भ मे चालीस प्रकार के तापसो का वर्णन है। उनमे कुछ इस प्रकार हैं —

(क) केवल एक कमण्डलु धारण करने वाले।
(ख) केवल फलो पर निर्वाह करने वाले।
(ग) एक बार जल मे डुबकी लगा कर तत्काल बाहर निकलने वाले।
(घ) बार बार जल में डुबकी लगाने वाले।
(ङ) जल मे ही गले तक डूबे रहने वाले।
(च) सभी वस्त्रो, पात्रो और देह को प्रक्षालित रखने वाले।
(छ) शख ध्वनि कर भोजन करने वाले।
(ज) सदा खडे रहने वाले।
(झ) मृग-मास के भक्षण करने वाले।

(ट) हाथी का मास खाकर रहने वाले।
(ठ) सदा ऊचा दण्ड किये रहने वाले।
(ड) वल्कल-वस्त्र धारण करने वाले।
(ढ) सदा पानी मे रहने वाले।
(ण) सदा वृक्ष के नीचे रहने वाले।
(त) केवल जल पर निर्वाह करने वाले।
(थ) जल के ऊपर आने वाली शैवाल खा कर जीवन चलाने वाल।
(द) वायु भक्षण करने वाले।
(ध) वृक्ष मूल का आहार करने वाले।
(न) वृक्ष के कन्द का आहार करने वाले।
(प) वृक्ष के पत्तो का आहार करने वाले।
(फ) वृक्ष की छाल का आहार करने वाले।
(ब) पुष्पो का आहार करने वाले।
(भ) बीजो का आहार करने वाले।
(म) स्वत टूट कर गिरे हुए पत्रो, पुष्पो, तथा फलो का आहार करने वाले।
(य) दूसरे द्वारा फेंके हुए पदार्थों का आहार करने वाले।
(र) सूय की आतापना लेने वाले।
(ल) कष्ट सह कर शरीर को पत्थर जैसा कठोर बनाने वाले।
(व) पचाग्नि तापने वाले।
(श) गम बतन पर शरीर को परितप्त करने वाले।

तापसो के वे विभिन्न रूप उस समय की साधना प्रणालियों की विविधता के द्योतक है। साधारणत इनमे से कुछ का झुकाव हठयोग या काय क्लेश मूलक तप की ओर अधिक प्रतीत होता है। इन साधनाओ का सागोपाग रूप क्या था, इनका किन दार्शनिक परम्पराओ या धम सम्प्रदायो से सम्बन्ध था, उन दिनो भारत मे उस प्रकार के उनसे भिन्न और भी साधना क्रम थे क्या, उनके पीछे तत्त्व-चिन्तन की क्या पृष्ठभूमि थी इत्यादि विषयो के अध्ययन की दृष्टि से ये सूचनाएँ उपयोगी हैं।

११ पुप्फचूला (पुष्पचूला)

१ श्रीदेवी अध्ययन २ ह्रीदेवी अध्ययन, ३ धृतिदेवी-अध्ययन, ४ कीर्तिदेवी अध्ययन, ५ बुद्धिदेवी-अध्ययन, ६ लक्ष्मीदेवी अध्ययन, ७ इलादेवी,-अध्ययन, ८ सुरादेवी-अध्ययन, ९ रसदेवी अध्ययन, १० गन्धदेवी-अध्ययन, ये दश अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन मे श्रीदेवी का वर्णन है। वह देवी दैवी-वैभव, समृद्धि तथा सज्जा के साथ अपने विमान द्वारा भगवान् के दर्शन के लिये आती है। गणधर गौतम भगवान् महावीर से उसका पूर्व भव पूछते हैं। भगवान् उसे बतलाते हैं। इस प्रकार श्रीदेवी के पूर्व जन्म का कथानक उपस्थित किया जाता है।

दूसरे से दशवें तक के अध्ययन केवल सकेत मात्र हैं जो इस प्रकार हैं—जिस प्रकार प्रथम अध्ययन मे श्रीदेवी का वृत्तान्त वर्णित हुआ है, उसी प्रकार अवशिष्ट नौ देवीयो का समझ ले। उन देवियो के विमानो के नाम उनके अपने अपने नामो के अनुसार है। सभी सौधर्म-कल्प में निवास करने वाली हैं। पूर्व भव के नगर चैत्य, माता-पिता, उनके अपने नाम सग्रहणी गाथा[1] के अनुसार हैं। अपने पूर्व भव मे वे सभी भगवान् पार्श्व के सम्पर्क मे आईं। पुष्पचूला आर्या की शिष्याएँ हुईं। सभी शरीर आदि का विशेष प्रक्षालन करती थी, शौच-प्रधान थीं। सभी देवलोक से च्यवन कर महाविदेह क्षेत्र मे सिद्धि प्राप्त करेगी। इस प्रकार पुष्पचूला का समापन हुआ।"[2]

---

१ सग्रहणी गाथा जिसमें पूर्व भव के नगर नाम, माता पिता आदि का उल्लेख रहता है विच्छिन्न प्रतीत होती है।

२ एव सेसाण वि णवण्ह भणियव्व, सरिसणामा विमाणा सोहम्मे कप्पे। पुव्वभवे नगरे चेइय पियमाईण अप्पणो या नामइ जहा सगहणीए। सव्वा पासस्स अतिय निक्खताओ, पुप्फचूलाण सिसिणीयाओ सरीर पाउसिणीयाओ सव्वाओ अणतर चइचइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहि ति। एव खलु निक्खेवओ। पुप्फचूलाओ सम्मत्ताओ।

—पुप्फचूला, अन्तिम अश

१२ वण्हिदशा (वृष्णिदशा)

नाम

नन्दी चूर्णि के अनुसार इस उपांग का पूरा नाम अन्धकवृष्णि दशा था। अन्धक शब्द काल क्रम से लुप्त हो गया, केवल वृष्णिदशा बचा रहा। अब यह उपांग इसी नाम से प्रसिद्ध है। इसमें बारह अध्ययन हैं, जिनमें वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारों का वर्णन है। उन्हीं राजकुमारों के नाम से ये अध्ययन हैं: १ निषधकुमार अध्ययन, २ अनीककुमार अध्ययन, ३ प्रह्वकुमार-अध्ययन, ४ वेधकुमार-अध्ययन, ५ प्रगतिकुमार अध्ययन, ६ मुक्तिकुमार-अध्ययन, ७ दशरथकुमार अध्ययन, ८ दृढरथकुमार-अध्ययन, ९ महाधनुष्कुमार-अध्ययन, १० सप्तधनुष्कुमार अध्ययन, ११ दशधनुष्कुमार अध्ययन तथा १२ शतधनुष्कुमार-अध्ययन।

प्रथम अध्ययन में बलदेव और रेवती के पुत्र निषधकुमार के उत्पन्न होने, बड़े होने, श्रमणोपासक बनने तथा भगवान् अरिष्टनेमि से श्रमण प्रव्रज्या ग्रहण करने आदि का वर्णन है। उनके विगत तथा भविष्यमाण दो भवों व अन्ततः (दूसरे भव के अन्त में) महाविदेह क्षेत्र में सिद्धत्व प्राप्त करने का वर्णन है।

यद्यपि इस अध्ययन में वासुदेव कृष्ण का वर्णन प्रसंगोपात्त है, पर, वह महत्त्वपूर्ण है। वासुदेव कृष्ण के प्रभुत्व, वैभव, सैन्य, समृद्धि, गरिमा, सज्जा आदि का विस्तार से उल्लेख किया गया है। वृष्णिवंश या यादव कुल के राज्य, यादववंश का वैपुल्य, आज के सौराष्ट्र के प्रागैतिहासकालीन विवरण आदि अध्ययन की दृष्टि से इस उपांग का यह भाग उपयोगी है। अन्य ग्यारह अध्ययन केवल सूचना मात्र हैं। जैसे, इसी प्रकार (प्रथम की तरह) अवशिष्ट ग्यारह अध्ययन समझने चाहिए। पूर्व भव के नाम आदि संग्रहणी गाथा से ज्ञातव्य हैं। इन ग्यारह कुमारों का वर्णन निषधकुमार के वर्णन से न न्यून है और न अधिक। इस प्रकार वृष्णिदशा का समापन हुआ।'[1]

---

[1] एवं सेसा वि एक्कारस अज्झयणा नेयव्वा। संगहणी अणुसारेण अहीणम इरित्तं एक्कारससु वि। इति वण्हिदशा सम्मत्त।

—वण्हिदशा सूत्र, अन्तिम अंश।

वृष्णि दशा के समाप्त होने का कथन करने के अनन्तर अन्त मे इन शब्दो द्वारा एक और सूचन किया गया है "निरयावलिका श्रुत-स्कन्ध समाप्त हुआ। उपाग समाप्त हुए। निरयावलिका उपांग का एक ही श्रुत-स्कन्ध है। उसके पाँच वर्ग हैं। वे पाच दिनो मे उपदिष्ट किये जाते है। पहले से चौथे तक के वर्गो मे दश दश अध्ययन हैं और पाचवें वर्ग मे बारह अध्ययन हैं। निरयावलिका श्रुत स्कन्ध समाप्त हुआ।"[1] इस उल्लेख से बहुत स्पष्ट है, वर्तमान मे पृथक् पृथक् पाच गिने जाने वाले निरयावलिका (कल्पिका कल्पावतंसिका, पुष्पिका पुष्पचूला तथा वृष्णिदशा), ये उपाग कभी एक ही ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित थे।

छेद सूत्र

बौद्ध वाङ्मय मे विनय पिटक की जो स्थिति है, जैन वाङ्मय म छेद सूत्रो की लगभग उसी प्रकार की स्थिति है। इनमे जन श्रमणो तथा श्रमणियो के जीवन से सम्बद्ध आचार-विषयक नियमो का विश्लेषण है, जो भगवान महावीर द्वारा निरूपित किये गये थे तथा आगे भी समय समय पर उनकी उत्तरवर्ती परम्परा मे निर्धारित होते गये थे। नियम भग हो जाने पर साधु-साध्वियो द्वारा अनुसरणीय अनेक प्रायश्चित्त विधियों का इनमे विशेषत विश्लेषण है।

श्रमण जीवन की पवित्रता को बनाये रखने की दृष्टि से छेद-सूत्रो का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि इन्हें उत्तम कहा गया है। भिक्षु-जीवन के सम्यक सचालन के हेतु छेद-सूत्रो का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। आचार्य, उपाध्याय जैसे महत्त्वपूर्ण पदो के अधिकारी छेद सूत्रो के मर्मवेत्ता हो, ऐसा अपेक्षित माना जाता रहा है। कहा गया है कोई भी आचार्य

---

१ निरयावलिया सुयक्खधो सम्मत्तो। सम्मत्ताणि य उवगाणि। निरयावलि उवगेण एगो सुयक्खधो पचवग्गा पचसु दिवसेसु उद्दिसति। तत्थ चउसु दस दस उद्देसगा। पचमगे बारस उद्देसगा। निरयावलिया सुयक्खधो सम्मत्तो।

—निरयावलिया, (वण्हिदशा), अन्तिम भाग

छेद-सूत्रों के गम्भीर अध्ययन के बिना अपने श्रमण-समुदाय को ले कर ग्रामानुग्राम विहार नहीं कर सकता।

निशीथ भाष्य में बतलाया गया है कि छेद-सूत्र अर्हत्-प्रवचन का रहस्य उद्घोषित करने वाले हैं, गुह्य-गोप्य हैं। वे अल्प सामर्थ्य-वान् साधक को नहीं दिये जा सकते। पूर्ण पात्र ही उनके अधिकारी होते हैं। भाष्यकार का कहना है कि, जिस प्रकार अपरिपक्व घट में रखा गया जल घट का नष्ट कर देता है, उसी प्रकार छेद-सूत्रों में सन्निहित सिद्धान्तों का रहस्य अनधिकारी साधक के नाश का कारण होता है। विनय पिटक के सम्बन्ध में इसी प्रकार की गुह्यता (गोपनीयता) की चर्चा प्राप्त होती है। मिलिन्द प्रश्न में उल्लेख है कि विनय-पिटक को छिपा कर रखा जाना चाहिए, जिससे अपयश न हो। कहने का आशय यह है कि प्रायश्चित्त प्रकरण में भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा प्रमाद या भोगाकांक्षा के उभर जाने के कारण सेवित उन चारित्रिक दोषों का भी वर्णन है, जिनकी विशुद्धि के लिये अमुक अमुक प्रायश्चित्त करने होते हैं। जन-साधारण तक उस स्थिति का पहुंचना लाभकर नहीं होता। जो वस्तुस्थिति के परिपूर्ण ज्ञाता नहीं होते, उनमें इससे श्रमण-श्रमणियों के प्रति अनेक प्रकार की विचिकित्सा तथा अश्रद्धा का उत्पन्न होना आशंकित है। सम्भवतः इसी कारण गोप्यता का संकेत किया गया प्रतीत होता है।

१ निसीह (निशीथ), २ महानिसीह (महानिशीथ), ३ ववहार (व्यवहार), ४ दसासुयक्खंध (दशाश्रुतस्कन्ध), ५ कप्प (कल्प), ६ पंच कप्प अथवा जीयकप्प (पंच कल्प अथवा जीतकल्प) प्रभृति छेद-सूत्र माने जाते हैं।

१ निसीह (निशीथ)

शब्द का अर्थ

निशीथ शब्द का अर्थ अंधकार, अप्रकाश या रात्रि है। निशीथ भाष्य में इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है : 'अप्रकाश या अंधकार लोक में 'निशीथ' शब्द से अभिहित होता है। जो अप्रकाश धर्म—रहस्यभूत या गोपनीय होता है, उसे भी निशीथ कहा गया

है।"[1] इस व्याख्या का तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार रहस्यमय विद्या मन्त्र, तन्त्र, योग आदि अनधिकारी या अपरिपक्व बुद्धिवाले व्यक्तियों को नहीं बताये जा सकते अर्थात् उनसे उन्हें छिपा कर या गोप्य रखा जाता है, उसी प्रकार निशीथ सूत्र भी गोप्य है, हर किसी के समक्ष उद्‌घाट्य नहीं है।

निशीथ आचाराग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध से सम्बद्ध माना जाता है। इस आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पचम चूला के रूप मे स्वीकार किया जाता है, जिसे निशीथ-चूला अध्ययन कहा जाता है। निशीथ का आचार प्रकल्प के नाम से भी अभिहित किया गया है।

निशीथ सूत्र मे साधुओ के और साध्वियो के आचार से सम्बद्ध उत्सर्ग विधि तथा अपवाद विधि का विवेचन है एव उनमे स्खलना होने पर आचरणीय प्रायश्चित्तो का विवेचन है। इस सन्दर्भ मे वहा बहुत सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है, जो अपने सयम—जीवितव्य का सम्यक् निर्वाह करने की भावना वाले प्रत्येक निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थिनी के लिये पठनीय है। ऐसी मान्यता है कि यदि कोई साधु निशीथ सूत्र विस्मृत कर दे तो वह यावज्जीवन आचार्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता।

रचना : रचनाकार

निशीथ सूत्र की रचना कब हुई, किसके द्वारा हुई, यह निर्विवाद नहीं है। बहुत पहले से इस सम्बन्ध मे मत भेद चले आ रहे है। निशीथ भाष्यकार का अभिमत है कि पूर्वधारी श्रमणो द्वारा इसकी रचना की गयी। अर्थात् यह पूर्व ज्ञान के आधार पर निबद्ध है। इसका और अधिक स्पष्ट रूप इस प्रकार माना जाता है कि नवम प्रत्याख्यान पूर्व के आचार-सज्ञक तृतीय अधिकार के बीसवें प्राभृत के आधार पर यह (निशीथ-सूत्र) रचा गया।

चूर्णिकार जिनदास महत्तर का मन्तव्य है कि विसाहगणि (विशाख गणी) महत्तर ने इसकी रचना की, जिसका उद्देश्य अपने

---

१ ज हाति अप्पगास, त तु निसीह ति लोगससिद्ध ।
ज अप्पगासधम्म अण्ण पि तय निसीधति ।।

शिप्य प्रशिष्या का हित-साधन था। पचकल्प चूर्णि मे बताया गया है कि, आचाय भद्रबाहु निशीथ सूत्र के रचयिता थे।

निशीथ सूत्र मे बीस उद्देशक है। प्रत्येक उद्देशक भिन्न भिन्न सम्यक सूत्रो से विभक्त है।

व्याख्या साहित्य

निशीथ के सूत्रो पर नियु क्ति की रचना हुई। परम्परा से आचार्य भद्रबाहु नियु क्तिकार के रूप मे प्रसिद्ध है। सूत्र एव नियु क्ति के विश्लेषण हेतु सघदास गणी ने भाष्य की रचना की। सूत्र, नियु क्ति और भाष्य पर जिनदास महत्तर ने विशेष चूर्णि की रचना की, जो अत्यन्त सार-गर्भित है। प्रद्यु म्न सूरि के शिष्य द्वारा इस पर अवचूरि की भी रचना की गई। इस पर बृहद् भाष्य भी रचा गया पर, वह आज प्राप्त नही है। सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा द्वारा निशीथ सूत्र का भाष्य एव चूर्णि के साथ चार भागो मे प्रकाशन हुआ है, जिसका सम्पादन सुप्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय अमर मुनि जी तथा मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' द्वारा किया गया है।

२ महानिसीह (महानिशीथ)

महानिशीथ का समग्र आर्हत् प्रवचन का सार बताया गया है। पर, वस्तुत जो मूल रूप मे महानिशीथ था, वह यथावत् नही रह सका। कहा जाता है कि, इसके ग्रथ नष्ट-भ्रष्ट हो गये, उन्हे दीमक खा गये। तत्पश्चात् आचाय हरिभद्रसूरि ने उसका पुन परिष्कार या सशोधन किया और उसे एक स्वरूप प्रदान किया। ऐसा माना जाता है कि वृद्धवादी, सिद्धसेन, यक्षसेन, देवगुप्त यशोवर्धन, रविगुप्त, नेमिचन्द्र तथा जिनदास गणी प्रभृति आचार्यों ने उसे समाहृत किया। वह प्रवर्तित हुआ। साधारणतया निशीथ को लघु निशीथ और इसे महानिशीथ कहा जाता है। पर, वास्तव मे ऐसा घटित नही होता, क्योकि उपयु क्त विवेचन से स्पष्ट है कि महानिशीथ का वास्तविक रूप विद्यमान नही है।

महानिशीथ छ अध्ययनो तथा दो चूलाओ मे विभक्त है। प्रथम अध्ययन का नाम शल्योद्धरण है। इसमे पाप रूप शल्य की

निन्दा और आलोचना के सन्दर्भ मे अठारह पाप स्थानको की चर्चा है। द्वितीय अध्ययन मे कर्मों के विपाक तथा पाप कर्मों की आलोचना की विधेयता का वर्णन है। तृतीय और चतुर्थ अध्ययन मे कुत्सित शील या आचरण वाले साधुओ का संसर्ग न किये जाने के सम्बन्ध मे उपदेश है। प्रसंगोपात्त यहा उल्लेख है कि नवकार मन्त्र का उद्धार किया और इसे मूल सूत्र मे स्थान दिया।[1] नवनीतसार संज्ञक पंचम अध्ययन मे गुरु शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन है। उस प्रसंग मे गच्छ का भी वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गच्छाचार नामक प्रकीर्णक की रचना इसी के आधार पर हुई। षष्ठ अध्ययन मे आलोचना तथा प्रायश्चित्त के क्रमश दस और चार भेदो का वर्णन है।

पति की मृत्यु पर स्त्री के सती होने तथा यदि कोई राजा निष्पुत्र मर जाए तो उसकी विधवा कन्या को राज्य-सिंहासनासीन किये जाने का भी यहा उल्लेख है।

ऐतिहासिकता

इस सूत्र की भाषा तथा विषय के स्वरूप को देखते हुए इसकी गणना प्राचीन आगमो मे किया जाना समीचीन नही लगता। इसमे तन्त्र सम्बन्धी वर्णन भी प्राप्त होते हैं। जन आगमो के अतिरिक्त इतर ग्रन्थो का भी इसमे उल्लेख है। अन्य भी ऐसे अनेक पहलू हैं जिनसे यह सम्भावना पुष्ट होती है कि यह सूत्र अर्वाचीन है।

३ ववहार (व्यवहार)

श्रुत वाङ्मय में व्यवहार सूत्र का बहुत बडा महत्व है। यहा तक कि इसे द्वादशाग का नवनीत कहा गया है। यद्यपि संख्या मे छेद सूत्र छ हैं, पर, वस्तुत उनमे विषय, सामग्री, रचना आदि सभी दृष्टियो से महत्वपूर्ण तीन ही हैं, जिनमे व्यवहार सूत्र मुख्य हैं। अवशिष्ट दो निशीथ और बृहत्कल्प हैं।

---

१ यहा यह ज्ञातव्य है कि दिगम्बर मान्यता में नवकार मन्त्र के विषय में भिन्न मान्यता है। षट्खण्डागम के धवला टीकाकार वीरसेन का अभिमत है कि आचार्य पुष्पदन्त नवकार मन्त्र के स्रष्टा हैं।

दश उद्देशक है, जो लगभग तीन सौ सूत्रों में विभक्त है। कलेवर में यह श्रुत ग्रन्थ निशीथ से छोटा और बृहत्कल्प से बड़ा है। भिक्षुओं, भिक्षुणियों द्वारा ज्ञात अज्ञात रूप में आचरित दोषों या स्खलनाओं की शुद्धि या प्रतिकार के लिए प्रायश्चित्त, आलोचना आदि का यहां बहुत मार्मिक वर्णन है। उदाहरणार्थ, प्रथम उद्देशक में एक प्रसंग है। यदि एक साधु अपने गण से पृथक् हो कर एकाकी विहार करने लगे और फिर यदि अपने गण में पुनः समाविष्ट होना चाहे, तो उसके लिए आवश्यक है कि, वह उस गण के आचार्य, उपाध्याय आदि के समक्ष अपनी गर्हा, निन्दा आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त अंगीकार कर आत्म मार्जन करे। यदि आचार्य या उपाध्याय न मिले, तो साम्भोगिक, विद्यागमी साधुओं के समक्ष वैसा करे। यदि वह भी न मिले, तो सूत्रकार ने अन्य साम्भोगिक इतर सम्प्रदाय के विद्यागमी साधु के समक्ष वैसा करने का विधान किया है। उसके भी न मिलने पर सूत्रकार ने अन्य विशिष्ट व्यक्तियों के विकल्प उपस्थित किए हैं, जिनकी साक्षी से आलोचना, निन्दा, गर्हा द्वारा अन्त-परिष्कार कर प्रायश्चित्त किया जाये। यदि वैसा कोई भी न मिल पाए, तो सूत्रकार का निर्देश है कि ग्राम नगर निगम, राजधानी, खेड, कर्बट, मडम्ब, पट्टण, द्रोणमुख आदि के पूर्व या उत्तर दिशा में स्थित हो, अपने मस्तक पर दोनों हाथों की अंजलि रख कर इस प्रकार कहते हुए आत्मपर्यालोचन करे कि मैंने अपराध किए हैं साधुत्व में अपराधी दोषी बना हूं। मैं अर्हतों और सिद्धों की साक्षी से आलोचना करता हूं। आत्म प्रतिक्रान्त होता हूं, आत्म निन्दा तथा गर्हा करता हूं, प्रायश्चित्त स्वीकार करता हूं।

आत्म-परिष्कृति या अन्त शोधन की यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो श्रामण्य के विशुद्ध निर्वहन में निःसंदेह उद्बोधक तथा उत्प्रेरक है। व्यवहार-सूत्र में इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं, जिनका श्रमण-जीवन एवं श्रमण संघ के व्यवस्था क्रम समीचीनतया संचालन तथा पवित्रता की दृष्टि से बड़ा महत्व है।

कतिपय महत्वपूर्ण प्रसग

प्रायश्चित्तो के विश्लेषण की दृष्टि से दूसरा उद्देशक भी विशेष महत्वपूर्ण है। अनवस्थाप्य, पाराचिक आदि प्रायश्चित्ता के सन्दर्भ मे इस मे अनेक महत्वपूर्ण तथ्यो का विवेचन हुआ है। एक स्थान पर वर्णन है—"जो साधु रोगाक्रान्त है, वायु आदि के प्रकोप से जिसका चित्त विक्षिप्त है, कारण विशेष (कन्दर्पोद्भव आदि) मे जिसके चित्त मे वैकल्य है, यक्ष आदि के आवेश के कारण जो ग्लान है, शल्य आदि से अत्याक्रान्त है, जो उन्माद-प्राप्त है, जो देवकृत उपसर्ग से ग्रस्त होने के कारण अस्त-व्यस्त है, क्रोध आदि कषाय के तीव्र आवेश के कारण जिसका चित्त खिन्न है, उसको—उन सबको जब तक वे स्वस्थ न हो जायें, तब तक उन्हे गण से बहिष्कृत करना अकल्प्य है।" इस प्रकार के और भी अनेक प्रसग हैं।

गण-धारकता के लिए अपेक्षित स्थितिया विहार चर्या के विधि-निषेध, पदासीनता, भिक्षा-चर्या, सम्भोग-विसम्भोग का विनि नम, स्वाध्याय के सम्बन्ध मे सूचन आदि अनेक विवरण है जो श्रमण-जीवन के सर्वांगीण अध्ययन एव अनुशीलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

सातवा उद्देशक साधुओ और साध्वियो के पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि से अध्येतव्य है। वहा उल्लेख है कि, तीन वर्ष के दीक्षा पर्यायवाला अर्थात् जिसे प्रव्रजित हुए केवल तीन वर्ष हुए हैं वैसा साधु उस साध्वी को, जिसे दीक्षा ग्रहण किये तीस वर्ष हो गये हैं, उपाध्याय के रूप मे आदेश-उपदेश दे सकता है। इसी प्रकार केवल पाच वर्ष का दीक्षित साधु साठ वर्ष की दीक्षिता साध्वी को आचार्यरूप में उपदेश दे सकता है। ये विधान विनयपिटक के उस प्रसग से तुलनीय हैं, जहां सौ वर्ष की उपसम्पदा प्राप्त भिक्षुणी को भी उसी दिन उपसम्पन्न भिक्षु के प्रति अभिवादन, प्रत्युत्थान, अजलि प्रणति आदि करने का विधान है। साधुओ एव साध्वियो के आचार-व्यवहार-सम्बन्धी तारतम्य और भेद रेखा की दृष्टि से ये प्रसग विशेष रूप से मननीय एव समीक्षणीय हैं।

नवम उद्देशक मे साधु की प्रतिमाओ तथा अभिग्रह का और दशम अध्ययन मे यवमध्य-चन्द्र प्रतिमा, वज्र-मध्य-चन्द्र प्रतिमा आदि का वर्णन है।

दशम अध्ययन मे शास्त्राध्ययन की मर्यादा एव नियमानुक्रम का विवेचन है, जो प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए ज्ञातव्य है। उसके अनुसार निम्नाकित दीक्षा-पर्याय-सम्पन्न साधु निम्नाकित रूप मे शास्त्राध्ययन का अधिकारी है

दीक्षा-पर्याय	शास्त्र
तीन वर्ष	आचार-कल्प
चार वर्ष	सूत्रकृताग
पाच वर्ष	दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार
आठ वर्ष	स्थानाग, समवायाग
दश वर्ष	व्याख्या प्रज्ञप्ति
ग्यारह वर्ष	क्षुल्लिका-विमान-प्रविभक्ति, महती-विमान-प्रविभक्ति अगचूलिका, वग (वर्ग)-चूलिका एव व्याख्या-चूलिका
बारह वर्ष	अरुणोपपात, गरुडोपपात, वरुणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलघरोपपात।
तेरह वर्ष	उत्थान-श्रुत, समुत्थान-श्रुत, देवेन्द्रोपपात, नागपरियापनिका
चौदह वर्ष	स्वप्न अध्ययन
पन्द्रह वर्ष	चारण भावना अध्ययन
सोलह वर्ष	वेद निसर्ग
सतरह वर्ष	आशीविष भावना अध्ययन
अठारह वर्ष	दृष्टि विष भावना अग
उन्नीस वर्ष	दृष्टिवाद अग
बीस वर्ष	सभी शास्त्र

इस उद्देशक में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, नव दीक्षित शैक्ष (शिष्य) वार्धक्य आदि के कारण ग्लान (श्रमण), कुल, गण संघ तथा साधर्मिक, इन दश के वैयावृत्य—दैहिक सेवा आदि का भी उल्लेख है।

रचयिता और व्याख्याकार

व्यवहार सूत्र के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। उन्हीं के नाम से इस पर नियुक्ति है। पर, सूत्रकार तथा निर्युक्ति कार भद्रबाहु एक ही थे, यह विवादास्पद है। बहुत सम्भव है, सूत्र तथा नियुक्ति भिन्नकर्तृक हों, इस नाम से दो भिन्न आचार्यों की रचनाएं हों। व्यवहार सूत्र पर भाष्य भी उपलब्ध है पर, नियुक्ति तथा भाष्य परस्पर मिश्रित से हो गये है। आचार्य मलयगिरि द्वारा भाष्य पर विवरण की रचना की गयी है। व्यवहार सूत्र पर चूर्णि और अवचूरि की भी रचना हुई। ऐसा अभिमत है कि इस पर बृहद् भाष्य भी था, पर, वह आज उपलब्ध नहीं है।

४ दसासुयक्खंध (दशाश्रुतस्कन्ध)

यह छेद सूत्रों में चौथा है। इसे दशा, आचार दशा या दशाश्रुत भी कहा जाता है। यह दश भागों में विभक्त है जिन्हें दशा नाम से अभिहित किया गया है। आठवां भाग अध्ययन नाम से सकेतित है।

प्रथम दशा में असमाधि के बीस स्थानों का वर्णन है। द्वितीय दशा में शबल के इक्कीस स्थानों का विवेचन है। शबल का अर्थ धब्बे वाला, चितकबरा या सदोष है। यहां शबल का प्रयोग दूषित आचरण रूप धब्बों के अर्थ में है। तृतीय दशा में आशातना के तेतीस प्रकार आदि का उल्लेख है।

गणि-सम्पदा

चतुर्थ दशा में गणी या आचार्य की आठ सम्पदाओं का वर्णन है। वे आठ सम्पदाएं इस प्रकार हैं १ आचार सम्पदा, २ श्रुत सम्पदा, ३ शरीर सम्पदा, ४ वचन सम्पदा, ५ वाचना सम्पदा, ६ मति-सम्पदा, ७ प्रयोग-सम्पदा ८ संग्रह सम्पदा। प्रत्येक

सम्पदा के भेदा का जो वणन किया गया है, वह श्रमण-सस्कृति से श्राप्यायित विराट व्यक्तित्व के स्वरूप को जानने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है, अत उन भेदो का यहा उल्लेख किया जा रहा है

आचार सम्पदा के चार भेद १ सयम मे ध्रुव योगयुक्त होना, २ अहकाररहित होना, ३ अनियतवृत्ति होना, ४ वृद्ध स्वभावी (अचञ्चल स्वभावी) होना।

श्रुत सम्पदा के चार भेद १ बहुश्रुतता, २ परिचितश्रुतता, ३ विचित्रश्रुतता, ४ घोपविशुद्धिकारकता।

शरीर-सम्पदा के चार भेद १ आदेय वचन, (ग्रहण करने योग्य वाणी), २ मधुर वचन, ३ अनिश्रित (प्रतिबन्ध रहित) वचन, ४ असदिग्ध वचन।

वाचना सम्पदा के चार भेद १ विचारपूवक वाच्य विपय का उद्देश निर्देश करना, २ विचारपूवक वाचना करना ३ उपयुक्त विपय का ही विवेचन करना, ४ अथ का सुनिश्चित निरूपण करना।

मति-सम्पदा के चार भेद १ अवग्रह मति-सम्पदा २ ईहा मति सम्पदा, ३ अवाय मति सम्पदा, ४ धारणा मति सम्पदा।

प्रयोग सम्पदा के चार भेद १ आत्म ज्ञान पूवक वाद प्रयोग, २ परिपद ज्ञान पूवक वाद प्रयोग, ३ क्षेत्र ज्ञान पूवक वाद प्रयोग, ४ वस्तु ज्ञान पूवक वाद-प्रयोग।

सग्रह-सम्पदा के चार भेद १ वर्षाऋतु मे सब मुनियो के निवास के लिए योग्य स्थान की परीक्षा करना २ सब मुनियो के लिए प्रातिहारिक पीठ फलक शय्या सस्तारक की व्यवस्था करना ३ नियत समय पर प्रत्येक कार्य करना, ४ अपने से बडो की पूजा प्रतिष्ठा करना।

पचम दशा मे चित्त-समाधि-स्थान तथा उसके दस भेदो का वणन है। षष्ठ दशा मे उपासक या श्रावक की दस प्रतिमाश्रो का निरूपण है। उस सदर्भ मे सूत्रकार ने मिथ्यात्व प्रमूत अक्रियावाद

और आरम्भ सम।、 न-सूनक क्रियावाद का विस्तार से विश्लेपण करते हुए द्रोह, राग, मोह आसक्ति, वैमनस्य तथा भोगैपणा, लौकिक सुख, लोकपणा-लोक प्रशस्ति आदि से उद्भूत अनेकानेक पाप कृत्यो का विश्लेपण करते हुए उनके नारकीय फलो का रोमाचक वणन किया है।

सप्तम दशा मे द्वादशविध भिक्षु प्रतिमा का वणन है । जसे, प्रथम एक मासिक भिक्षु-प्रतिमा मे पालनीय आचार-नियमो के सदभ मे विहार प्रवास को उद्दिष्ट कर बतलाया गया है कि एक मासिक भिक्षु प्रतिमा उपपन्न भिक्षु,जिस क्षेत्र मे उसे पहचानने वाले हो वहा केवल एक रात, अधिक हो तो, दो रात प्रवास कर विहार कर जाए। एसा न करने पर वह भिक्षु दीक्षाछेद अथवा परिहारिक तप के प्राय श्चित्त का भागी होता है। प्रत्येक प्रतिमा के सम्बन्ध मे विशद विवेचन किया गया है जो प्रत्येक सयम एव तप रत भिक्षु के लिये परि शीलनीय है।

अष्टम अध्ययन मे भगवान् महावीर के च्यवन, गभसहरण, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान, मोक्ष का वणन है। इसे पज्जोसण-कप्प या कल्प सूत्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस पर अनेक आचार्यो की टीकाए है, जिनमे जिनप्रभ, धमसागर, विनयविजय, समयसुन्दर रत्नसागर सघविजय लक्ष्मीवल्लभ आदि मुख्य है। पयु पण के दिना म साधु प्रवचन मे इसको पढ़त है। छेद सूत्रो का परिषद् मे पठन न किये जाने की परम्परा रही है क्योकि उनमे अधिकाशत साधु-साध्वियो द्वारा जान अनजान मे हुई भूला दोषो आदि के सम्माजन के विधि क्रम है, जिन्हे विशेषत उन्ह ही समझना चाहिए जिनसे उनका सम्बन्ध हो। पयु पण कल्प छेद सूत्र का अग होते हुए भी एक अपनी भिन्न स्थिति लिए हुए है, अत उसका पठन अन्तिम तीथकर भगवान् महावीर के इतिहास का अवबोध कराने के हेतु उपयोगी है। किंवदन्ती है कि विक्रमाब्द ५२३ मे आनन्दपुर के राजा ध्रुवसेन के पुत्र का मरण हो गया। उसे तथा उसके पारिवारिक जनो को शान्ति देने की दृष्टि स तब से इसका व्याख्यान मे पठन क्रम आरम्भ हुआ।

रचनाकार व्याख्या-साहित्य

दशाश्रुतस्कन्ध के रचयिता आचार्य भद्रबाहु माने जाते है। उन्ही के नाम से इस पर निर्युक्ति है। पर, जैसा कि व्यवहार सूत्र के वर्णन के प्रसग मे उल्लेख हुआ है, सूत्र और निर्युक्ति की एक-कर्तृकता संदिग्ध है। इस पर चूर्णि की भी रचना हुई। ब्रह्मर्षि पार्श्वचन्द्रीय प्रणीत वृत्ति भी है।

५ कल्प (कल्प अथवा बृहत्कल्प)

दशाश्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन मे पर्युषणा-कल्प की चर्चा की गयी है, उससे यह भिन्न है। इसे कल्पाध्ययन भी कहा जाता है। कल्प या कल्प्य का अर्थ योग्य या विहित है। साधु साध्वियो के सयम जीवन के निमित्त जो साधक आचरण है, वे कल्प या कल्प्य है और उसमे बाधा या विघ्न उपस्थित करने वाले जो आचरण है वे अकल्प या अकल्प्य है। प्रस्तुत सूत्र मे साधु-साध्वियो के सयत चर्या के सन्दर्भ मे वस्त्र, पात्र, स्थान आदि के विषय मे विशद विवेचन है। इसे जैन श्रमण-जीवन से सम्बद्ध प्राचीनतम आचार-शास्त्र का महान् ग्रन्थ माना जाता है। निशीथ और व्यवहार की तरह इसका भी भाषा, विषय आदि की दृष्टि से बडा महत्व है। इसकी भाषा विशेष प्राचीनता लिये हुए है। पर, टीकाकारो द्वारा यत्र-तत्र परिवर्तन परिवर्धन आदि किया जाता रहा है, जैसा कि अन्यान्य आगमो मे भी हुआ है।

कलेवर विषय-वस्तु

छ उद्देशको मे यह सूत्र विभक्त है। श्रमणो के खान-पान, रहन-सहन, विहार चर्या आदि के गहन विवेचन की दृष्टि इस मे परिलक्षित होती है। प्रसगोपात्त इसके प्रथम उद्देशक मे साधु साध्वियो के विहार-क्षेत्र के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उन्हे पूर्व मे अग और मगध तक, दक्षिण मे कौशाम्बी तक, पश्चिम मे थानेश्वर प्रदेश तक तथा उत्तर पूर्व मे कुणाल प्रदेश तक विहार करना कल्प्य है। इतना आर्य क्षेत्र है। इससे बाहर विहार कल्प्य नही है। इसके अनन्तर कहा गया है कि यदि साधुओ का अपने ज्ञान दर्शन तथा चारित्र्य का विघात न प्रतीत होता हो, वहा मे ज्ञान दर्शन व चारित्र्य की वृद्धि होने की

सम्भावना हो, तो उक्त सीमाओ से भी बाहर विहार करना कल्प्य है।

तीसरे उद्देशक मे साधुओ और साध्वियो के एक दूसरे के ठहरने के स्थान मे आवागमन की मर्यादा बैठने, सोने, आहार करने, स्वाध्याय करने, ध्यान करने आदि के निषेध प्रभृति का वर्णन है। श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार करने के समय उपकरण-ग्रहण का विधान वर्षा-काल के चार तथा अवशिष्ट आठ मास मे वस्त्र-व्यवहार आदि और भी अनेक ऐसे विषय इस उद्देशक मे व्याख्यात हुए हैं, जो सतत जागरूक तथा सयम-रत जीवन के सम्यक् निर्वाह की प्रेरणा देते हैं।

चतुर्थ उद्देशक मे आचार-विधि तथा प्रायश्चित्त का विश्लेषण है। उस सदर्भ मे अनुद्घातिक, पाराचिक तथा अनवस्थाप्य आदि की चर्चा है।

कतिपय महत्वपूर्ण उल्लेख

प्रासगिक रूप मे चतुर्थ उद्देशक मे उल्लेख हुआ है कि गगा यमुना सरयू, कोसी और मही नामक जो बडी नदिया है, उनमे से किसी भी नदी को एक मास मे एक बार से अधिक पार करना साधु साध्वी के लिए कल्प्य नही है। साथ ही-साथ वहा ऐसा भी कहा गया है "जैसे, कुणाला मे एरावती नदी है वह कम जल वाली है अत एक पर को पानी के भीतर और दूसरे को पानी के ऊपर करते हुए पानी देख कर (नितार-नितार कर) उसे पार किया जा सकता है। उसे एक मास मे दो बार, तीन बार पार करना भी कल्प्य है। पर जहा जल की अधिकता के कारण वैसा करना शक्य नही है, वहा एक बार से अधिक पार करना अकल्प्य है।

छठे उद्देशक में एक प्रसग मे कहा गया है कि, किसी साधु के पाव मे कीला, काटा, काच का तीखा टुकडा गड जाये, उसे स्वय निकालने मे सक्षम न हो, निकालने वाला अन्य साधु पास मे न हो, यदि साध्वी उसे शुद्ध भावपूर्वक निकाले, तो वह तीर्थकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करती। इसी प्रकार साधु की आख मे कोई जीव-भुनगा, बीज, रज कण आदि पड जाये, उसे वह साधु स्वय न निकाल

सक और न बसा कर सकने वाला कोई दूसरा साधु पास मे हो, तो साध्वी शुद्ध भाव से वैसा करती हुई तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करती।

साध्वी की भी यदि वैसी ही स्थिति हो, जैसी साधु की बतलाई गई है, तो साधु शुद्ध भाव से साध्वी के पैर से कीला, काटा, काच का टुकडा आदि निकाल सकता है। आख मे से कीटाणु, बीज, रज-कण आदि हटा सकता है। वैसा करता हुआ वह तीर्थकर की आज्ञा की विराधना नही करता।

एक और प्रसग है, जिसमे बतलाया गया है कि, यदि कोई साध्वी दुगम स्थान, विपम स्थान, पर्वत से स्खलित हो रही हो, गिर रही हो, उसे बचा सके, वैसी कोई दूसरी साध्वी उसके पास न हो तो साधु उसे पकड कर सहारा देकर बचाए तो वह तीर्थकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता। इसी प्रकार यदि कोई साधु नदी, जलाशय या कीचड मे फसी साध्वी को पकड कर निकाल दे, तो वह तीर्थकर की आज्ञा का उल्लघन नही करता। इसी प्रकार नौका मे चढते-उतरते समय साध्वी के लडखडा जाने, पडने लगने, वात आदि दोप से विक्षिप्त हो जाने के कारण अपने को न सम्भाल पाए, हर्पातिरेक या शोकातिरेक से ग्रस्त-चित्त हो कर आत्म-घात आदि के लिए उद्यत होने, यक्ष भूत प्रेत आदि से आवेशित हो जाने के कारण अस्त-व्यस्त दशा में हो जाने जसे अनेक प्रसग उपस्थित करते हुए सूत्रकार ने निर्दिष्ट किया ह कि उक्त स्थिति मे साधु साध्वी को पकड कर बचा सकता ह। वैसा करने मे उसे कोई दोप नही आता।

स्पष्ट है कि सूत्रकार ने इन प्रसगो से श्रमण-जीवन के विविध पहलुओ को सूक्ष्मता से परखते हुए एक व्यवस्था निर्देशित की है, जो श्रामण्य के शुद्धिपूर्वक निर्वहण-हेतु अपेक्षित एव उपयुक्त सुविधाओ की पूरक है।

रचना एव व्याख्या-साहित्य

कल्प या बृहत्कल्प के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि प्रत्याख्यान सज्ञक नवम पूर्व

की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत के प्रायश्चित्त सम्बन्धी विवेचन के आधार पर इसकी रचना की गयी। पूर्व ज्ञान की परम्परा उस समय अस्तोन्मुख थी, अतः प्रायश्चित्त-विधान जिसे प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को भलीभांति जानना चाहिए, कहीं उच्छिन्न या लुप्त न हो जाए, एतदर्थ आचार्य भद्रबाहु ने व्यवहार सूत्र और कल्पसूत्र रचे।

कल्प पर भद्रबाहु कृत निर्युक्ति भी है, जिसकी कर्तृकता असन्दिग्ध नहीं है। श्री संघदास गणी ने लघु भाष्य की रचना की। मलयगिरि ने उल्लेख किया है कि आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति तथा श्री संघदास गणी का भाष्य, दोनों इस प्रकार परस्पर विमिश्रित जैसे हो गये हैं कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् स्थापित करना असम्भव जैसा है। भाष्य पर आचार्य मलयगिरि ने विवरण की रचना की। पर, वह रचना पूर्ण नहीं थी। लगभग दो शताब्दियों के पश्चात् श्री क्षेमकीर्ति सूरि ने उसे पूरा किया। बृहत्कल्प पर बृहद् भाष्य भी है पर, वह पूर्ण नहीं है, केवल तृतीय उद्देशक तक ही प्राप्य है। इस पर विशेष चूर्णि की भी रचना हुई।

६ पंचकल्प (पंच-कल्प)

पंचकल्प सूत्र और पंचकल्प भाष्य, ये दो नाम प्रचलित हैं, जिनसे सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये दो ग्रन्थ हों, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। नाम दो है, ग्रन्थ एक। श्री मलयगिरि और श्री क्षेमकीर्ति के अनुसार पंचकल्प भाष्य वस्तुतः बृहत्कल्प भाष्य का ही एक अंश है। इसकी वैसी ही स्थिति है, जैसी पिण्ड निर्युक्ति और ओघ निर्युक्ति की हैं। पिण्ड निर्युक्ति कोई मूलतः पृथक् ग्रन्थ नहीं है वह दशवैकालिक निर्युक्ति का ही भाग है। उसी प्रकार ओघ निर्युक्ति भी स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो कर आवश्यक निर्युक्ति का ही भाग है। विषय-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण पाठकों की सुविधा की दृष्टि से उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया गया है।

बृहत्कल्प भाष्य का अंश होने के नाते पंचकल्प सूत्र या पंचकल्प भाष्य श्री संघदास गणी द्वारा रचित ही माना जाना चाहिये। इस पर चूर्णि की भी रचना हुई।

जीयकप्पसुत्त (जीतकल्प सूत्र)

जीअ, जीय या जीत का अर्थ परम्परा से आगत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या प्रायश्चित्त से सम्बन्ध रखने वाला एक प्रकार का रिवाज[1] आदि है। इस सूत्र में जैन श्रमणों के आचार के सम्बन्ध में प्रायश्चित्तों का विधान है। एक सौ तीन गाथाएं हैं। इसमें प्रायश्चित्त का महत्त्व, आत्म शुद्धि या अन्त -परिष्कार में उसकी उपादेयता आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रायश्चित्त के दश भेदों का वहां विवेचन है १ आलोचना, २ प्रतिक्रमण ३ मिश्र आलोचना प्रतिक्रमण, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ मूल, ९ अनवस्थाप्य, १० पाराचिक। ऐसी मान्यता है कि आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर अंतिम दो अनवस्थाप्य और पाराचिक नामक प्रायश्चित्त व्युच्छिन्न हो गये।

रचना व्याख्या-साहित्य

सुप्रसिद्ध जैन लेखक, विशेषावश्यक भाष्य जैसे महान् ग्रन्थ के प्रणेता श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (सप्तम विक्रमी) इस सूत्र के रचयिता माने जाते हैं। क्षमाश्रमण इसके भाष्यकार भी कहे जाते हैं पर, वह भाष्य वस्तुत कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न हो कर बृहत्कल्प भाष्य, व्यवहार-भाष्य, पञ्चकल्प भाष्य तथा पिण्ड नियुक्ति प्रभृति ग्रन्थों की विषयानुरूप भिन्न भिन्न गाथाओं का सकलन मात्र है। आचार्य सिद्धसेन ने इस ग्रन्थ पर चर्णी की रचना की। श्रीचन्द्र सूरि ने (१२२८ विक्रमाब्द मे) उस (चूर्णि) पर विषम पद व्याख्या' नामक टीका की रचना की। श्री तिलकाचार्य प्रणीत वृत्ति भी है। यति जीतकल्प और श्राद्ध जीतकल्प नामक ग्रन्थ भी जीतकल्प सूत्र से ही सम्बद्ध या तद् विषयानुगत माने जाते हैं। यति-जीतकल्प में यतियों या साधुओं के आचार का वर्णन है और श्राद्ध-जीतकल्प में श्राद्ध-श्रमणोपासक या श्रावक के आचार का विवेचन है। यति-जीतकल्प की रचना श्री सोमप्रभ सूरि ने की। श्री साधुरत्न ने उस पर वृत्ति लिखी। श्राद्ध जीतकल्प की रचना श्री धर्मघोष द्वारा की गयी। श्री सोमतिलक ने उस पर वृत्ति की रचना की।

१ पाइअ सद्द महण्णवो पृ० ३५८।

मूल-सूत्र

उत्तराध्ययन दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्ड-नियुक्ति तथा ओघ नियुक्ति को सामान्यत मूल सूत्र के नाम मे अभिहित किया जाता है। यह सवसम्मत तथ्य नही है। कुछ विद्वान् उत्तराध्ययन, दशवकालिक तथा आवश्यक, इन तीन को ही मूल सूत्रो मे गिनते है। वे पिण्ड-नियुक्ति तथा ओघ नियुक्ति को मूल सूत्रो म समाविष्ट नही करते। जसा कि पहले इ गित किया गया है पिण्ड नियुक्ति दशवकालिक नियुक्ति का तथा ओघ नियुक्ति आवश्यक-नियुक्ति का अ श है। कतिपय विद्वान् उक्त तीन मूल सूत्रो मे पिण्ड नियुक्ति को सम्मिलित कर उनकी सख्या चार मानते है। कुछ के अनुसार, जसा कि प्रारम्भ मे सूचित किया गया है, ओघ नियुक्ति सहित वे पाच हैं। कतिपय विद्वान् उपयुक्त तीन मे से आवश्यक को हटा कर तथा अनुयोगद्वार व नन्दी को उनमे सम्मिलित कर, चार की सख्या पूरी करते हैं। कुछ विद्वान् पक्खिय सुत्त (पाक्षिक सूत्र) का भी इनके साथ नाम सयोजित करते है।

मूल सूत्रो मे वस्तुत उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का जन वाङ्मय मे बहुत बडा महत्व है। विद्वान् इन्हे जैन आगम वाङ्मय के प्राचीनतम सूत्रो मे गिनते है। भाषा की दृष्टि से भी इनकी प्राचीनता अक्षुण्ण है। विषय विवेचन की अपेक्षा से ये बहुत समृद्ध है। सुत्त निपात व धम्मपद जसे सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थो से ये तुलनीय हैं। जन-दर्शन आचार विज्ञान तथा तत्सम्मत जीवन के विश्लेषण की दृष्टि से अध्येताओ और अन्वेष्टाओ के लिए ये ग्रन्थ विशेष रूप से परिशीलनीय है।

मूल नामकरण क्यो ?

मूल सूत्र' नाम क्यो और कब प्रचलित हुआ, कुछ कहा नही जा सकता। प्राचीन आगम ग्रन्थो मे 'मल' या 'मूल-सूत्रो' के नाम का कही भी उल्लेख नही है। पश्चाद्वर्ती साहित्य मे भी सम्भवत इस नाम का पहला प्रयोग श्री भावदेवसूरि रचित 'जैनधमवरस्तोत्र' के तीसवे श्लोक की टीका मे है। वहा "अथ उत्तराध्ययन आवश्यक पिण्ड

नियु क्ति-ओघ नियु क्ति-दशवैकालिक इति चत्वारि मूलसूत्राणि" इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।

पाश्चात्य विद्वानो द्वारा विमर्श

गहन अध्ययन, सस्पर्शी अनुसधान और गवेषणा की दृष्टि से यारोपीय देशा के कतिपय विद्वाना ने भारतीय वाड्मय पर जिस रुचि और अपरिश्रान्त अध्यवसाय व लगन के साथ जो काय किया है, निसदेह, वह स्तुत्य है। काय किस सीमा तक हो सका कितना हो सका, उसके निष्कप कितने उपादेय हैं, इत्यादि पहलू तो स्वतन्त्र रूप में चितन और आलोचना के विषय हैं, पर, उनका श्रम, उत्साह और सतत प्रयत्नशीलता भारतीय विद्वानो के लिये भी अनुकरणीय है। जन वाड्मय तथा प्राकृत भाषा के क्षेत्र मे जमनी आदि पश्चिमी देशा के विद्वाना न अधिक काय किया है। जन आगम-साहित्य पर अनुसधान-कर्ता विद्वानो के प्रस्तुत विषय पर जो भिन्न भिन्न विचार हैं, उन्हें यहा प्रस्तुत किया जाता है।

प्रो० शर्पेण्टियर का मत

जमनी के सुप्रसिद्ध प्राच्य विद्या अध्येता प्रो० शर्पेण्टियर (Prof Charpentier) ने उत्तराध्ययन सूत्र की प्रस्तावना मे इस मूल सूत्र नामकरण के सम्बध म जो लिखा है, उसके अनुसार इनमें भगवान् महावीर के खुद के शब्दो (Mahavira's own words) का सगृहीत होना है। इसका आशय यह है कि इनमे जो शब्द सकलित हुए हैं, व स्वय भगवान् महावीर के मुख से नि सृत हैं।

डा० वाल्टर शुब्रिंग का अभिमत

जन वाड्मय के विख्यात अध्येता जमनी के विद्वान् डा०वाल्टर शुब्रिंग (Dr Walter Schubring) ने Lax Religion Dyaina[1] नामक (जमन भाषा म लिखित) पुस्तक मे इस सम्बध मे उल्लेख किया है कि मूल सूत्र नाम इसलिए दिया गया प्रतीत होता है कि साधुओ और साध्वियो के साधनामय जीवन के मूल मे—प्रारम्भ मे उनके उपयोग के लिए इनका सजन हुआ।

---

१ पृष्ठ ७६

प्रो० गेरीनो की कल्पना

जन शास्त्रो के गहन अनुशीलक इटली के प्रोफेसर गेरीना (Prof Guerinot) ने इस सम्बन्ध मे एक दूसरी कल्पना की है। वैसा करते समय उनके मस्तिष्क मे ग्रन्थ के दो मूल' और 'टीका' का ध्यान रहा है अत उन्होने मूलका आशय Traiteo Original से लिया। अर्थात् प्रो० गेरीनो ने मूल ग्रन्थ के अर्थ मे मूल सूत्र का प्रयोग माना, क्योंकि इन ग्रन्थो पर नियुक्ति, चूर्णि टीका, वृत्ति प्रभृति अनेक प्रकार का विपुल व्याख्यात्मक साहित्य रचा गया है। टीका या व्याख्या ग्रन्थो मे उस ग्रन्थ को सवत्र 'मूल' कहा जाता है जिसकी व टीकाए या व्याख्याएँ होती हैं। जन आगम वाङ्मय-सम्बन्धी ग्रन्थो म उत्तराध्ययन और दशवकालिक पर अत्यधिक टीका-व्याख्यात्मक साहित्य रचा गया है, जिनमे प्रो० गेरीनो के अनुसार टीकाकारो न मूल ग्रन्थ के अर्थ म 'मूल सूत्र' का प्रयोग किया हो। उसी परिपाटी का सम्भवत यह परिणाम रहा हो कि इन्हे मूल सूत्र कहन की परम्परा आरम्भ हो गई हो।

समीक्षा

पाश्चात्य विद्वानो ने जो कल्पनाएँ की है, उनके पीछे किसी अपेक्षा का आधार है, पर, समीक्षा की कसौटी पर कसने पर वे सर्वाशत खरी नही उतरती। प्रो० शर्पेण्टियर ने भगवान् महावीर के मूल शब्दो के साथ इन्हे जोडते हुए जो समाधान उपस्थित किया, उसे उत्तराध्ययन के लिए तो एक अपेक्षा से सगत माना जा सकता है, पर, दशवकालिक आदि के साथ उसकी बिलकुल सगति नही है। भगवान् महावीर के मूल या साक्षात् वचनो के आधार पर यदि मूल सूत्र नाम पडता तो यह आचाराग, सूत्रकृताग जसे महत्वपूर्ण अग ग्रन्थो के साथ भी जुडता जिनका भगवान् महावीर की देशना के साथ (गणधरो के माध्यम से) सीधा सम्बन्ध माना जाता है। पर वहा ऐसा नही है, अत इस कल्पना मे विहित मूल शब्द का वह आशय यथावत् रूप मे घटित नही होता।

डा वाल्टर शुब्रिग ने श्रमण जीवन के प्रारम्भ मे—मूल मे पालनीय आचार सम्बन्धी नियमो परम्पराओ एव विधि विधानो के

के निरूपण की दृष्टि से मूल-सूत्र नाम दिये जाने का समाधान प्रस्तुत किया है, वह भी मूल-सूत्रो के अन्तर्गत माने जाने वाले सब ग्रन्थो पर कहा घटता है ? दशवैकालिक की तो लगभग वैसी स्थिति है, पर अन्यत्र बहुलांशतया वैसा नही है। उत्तराध्ययन मे, जो मूल-सूत्रो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण है श्रमण-चर्या से सम्बद्ध नियमोपनियमो तथा विधि विधानो के अतिरिक्त उसमे जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी अनेक विषय व्याख्यात किये गये हैं। अनेक दृष्टान्त, कथानक तथा ऐतिहासिक घटना-क्रम भी उपस्थित किये गये हैं, जो श्रमण संस्कृति और जैन तत्व धारा के विविध पहलुओ से जुडे हुए हैं, इसलिए डा वाल्टर शुब्रिग के समाधान को भी एकांगी चिन्तन से अधिक नही कहा जा सकता। मूल-सूत्रो मे जो सन्निहित है, शुब्रिग की व्याख्या मे वह सम्पूर्णतया अन्तर्भूत नही होता।

इटालियन विद्वान् प्रो गेरीना ने मूल और टीका के आधार पर मूल-सूत्र नाम पडने की कल्पना की है, वह बहुत स्थूल तथा बहिर्गामी चिन्तन पर आधृत है। उसमें सूक्ष्म गवेषणा या गहन विमर्ष की दृष्टि प्रतीत नही होती। मूल-सूत्रो के अतिरिक्त अन्य सूत्रो पर भी अनेक टीकाएँ हैं। परिणाम की न्यूनता-अधिकता हो सकती है। उससे कोई विशेष फलित निष्पन्न नही होता अत इस विश्लेषण की अनुपादेयता स्पष्ट है।

उपर्युक्त ऊहापोह के सन्दर्भ मे विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शन धर्म, आचार एव जीवन के मूलभूत आदर्शो, सिद्धान्तो या तथ्यो का विश्लेषण अपने आप में सहेजे रखने के कारण सम्भवत ये मूल सूत्र कहे जाने लगे हो। मुख्यत उत्तराध्ययन एव दशवैकालिक की विषय वस्तु पर यदि दृष्टिपात किया जाए, तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा।

१ उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)

नाम विश्लेषण

उत्तराध्ययन शाब्दिक दृष्टि से उत्तर और अध्ययन, इन दो शब्दो की समन्विति से बना है। उत्तर शब्द का एक अर्थ पश्चात् या

पश्चाद्वर्ती है। दूसरा अर्थ उत्कृष्ट या श्रेष्ठ है। इसका अर्थ प्रश्न का समाधान या उत्तर तो है ही।

पश्चाद्वर्ती अर्थ के आधार पर उत्तराध्ययन की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि इसका अध्ययन आचाराग के उत्तर काल मे होता था। श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव के अनन्तर इसके अध्ययन को कालिक परम्परा मे अन्तर आया। यह दशवैकालिक के उत्तर-काल मे पढ़ा जाने लगा। पर, 'उत्तराध्ययन सज्ञा मे कोई परिवर्तन करना अपेक्षित नही हुआ, क्योकि दोनो ही स्थानो पर पश्चाद्वर्तिता का अभिप्राय सदृश ही है।

उत्तर शब्द का उत्कृष्ट या श्रेष्ठ अर्थ करने के आधार पर कुछ विद्वानो ने इस शब्द की यह व्याख्या की कि जैन श्रुत का असाधारण रूप मे उत्कृष्ट एव श्रेष्ठ विवेचन है, अत इसका उत्तराध्ययन अभिधान अन्वर्थक है।

प्रो० ल्युमन (Prof Leuman) ने उत्तर और अध्ययन शब्दो का सीधा अर्थ पकड़ते हुए अध्ययन का आशय Later Readings अर्थात् पश्चात् या पीछे रचे हुए अध्ययन किया। प्रो० ल्युमैन के अनुसार इन अध्ययनो की या इस आगम की रचना अग ग्रन्थो के पश्चात् या उत्तर काल मे हुई, अतएव यह उत्तराध्ययन के नाम से अभिहित किया जाने लगा।

कल्पसूत्र तथा टीका-ग्रन्थो मे उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने अपने अंतिम समय मे अपृष्ट—अनपूछे छत्तीस प्रश्नो के सदर्भ मे विश्लेपण-विवेचन किया। इस आधार पर उन अध्ययनो का सकलन 'अपृष्ट-व्याकरण' नाम से अभिहित हुआ। उसी का नाम अपृष्ट प्रश्नो का उत्तर रूप होने के कारण उत्तराध्ययन हो गया। 'अपृष्ट-व्याकरण' की चर्चा आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित महाकाव्य' मे भी की है।[१]

---

१ षट्त्रिंशतमपृष्टव्याकरणान्यभिधाय च।
प्रधानं नामाध्ययनं जगद्गुरुरभावयत्॥

—पर्व १० सर्ग १३, श्लो० २२४

विमर्श

कल्पसूत्रकार तथा टीकाकारों द्वारा दिया गया समाधान तथा प्रो० ल्युमन द्वारा किया गया विवेचन, दोनों परस्पर भिन्न हैं। भगवान महावीर ने बिना पूछे छत्तीस प्रश्नों के उत्तर दिये, उनका संकलन हुआ—उत्तराध्ययन के अस्तित्व में आने के सम्बन्ध में यह कल्पना परम्परा-पुष्ट होते हुए भी उतनी हृद्‌ग्राह्य प्रतीत नहीं होती। भगवान् महावीर ने अपृष्ट प्रश्नों के उत्तर दिये, इसके स्थान पर यह भाषा क्या अधिक संगत नहीं प्रतीत होती कि उन्होंने अन्तिम समय में कुछ धार्मिक उपदेश, विचार या संदेश दिये। फिर वहां 'उत्तर' शब्द भी न आ कर 'व्याकरण' शब्द आया है, जिसका अर्थ—विश्लेषण है। यदि अन्तिम के अर्थ में 'उत्तर' शब्द का प्रयोग माना जाता, तो फिर कुछ संगति होती। पर, जवाब के अर्थ में उत्तर शब्द का यहां ग्रहण उत्तराध्ययन सूत्र के स्वरूप के साथ सम्भवतः उतना मेल नहीं खाता जितना होना चाहिए। उत्तराध्ययन में दृष्टान्त हैं, कथानक हैं, घटना-क्रम हैं—यह सब उत्तर शब्द के अभिप्राय में अन्तर्भूत हो जाएं, कम संगत प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी उत्तर शब्द वस्तुतः प्रश्न-सापेक्ष है। प्रश्न के बिना जो कुछ भी कहा जाए, वह व्याख्यान, विवेचन, विश्लेषण, निरूपण आदि सब हो सकता है, पर, उसे उत्तर कैसे कहा जाए? निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन की रचना के सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे यही तथ्य बाधित है।

प्रो० ल्युमन ने जो कहा है उसकी तार्किक असंगति नहीं है। भाषा-शास्त्रियों ने जो परिशीलन किया है, उसके अनुसार उत्तराध्ययन की भाषा प्राचीन है, पर, उससे प्रो० ल्युमन का कथन खण्डित नहीं होता। उन्होंने इसकी विशेष अर्वाचीनता तो स्थापित की नहीं है, इसे अंग-ग्रन्थों से पश्चाद्वर्ती बताया है। वैसा करने में कोई असम्भावना प्रतीत नहीं होती।

एक प्रश्न और उठता है, अंग ग्रन्थों के पश्चाद्वर्ती तो अनेक ग्रन्थ हैं, पश्चाद्वर्तिता या उत्तरवर्तिता के कारण केवल इसे ही उत्तराध्ययन क्यों कहा गया? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह अंग ग्रन्थों के समकक्ष महत्त्व लिये हुए है। रचना, विषय वस्तु, विश्लेषण

आदि की दृष्टि से उ ही की कोटि का है, अत इसे ही विशेप रूप से इस अभिधा से सज्ञित किया गया है, यह भी एक अनुमान है। उससे अधिक कोई ठोस तथ्य इससे प्रकट नही होता।

सक्षेप मे विशाल जन तत्त्व ज्ञान तथा आचार-शास्त्र को व्यक्त करने मे आगम-वाड मय मे इसका असाधारण स्थान है। भगवद्गीता जिस प्रकार समग्र वैदिक धम का निष्कर्ष या नवनीत है, जैन धम के सन्दभ मे उत्तराध्ययन की भी वही स्थिति है। काव्यात्मक हृदयस्पर्शी शैली, ललित एव सरल सवाद साथ ही साथ स्वभावत सालकार भाषा प्रभृति इसकी अनेक विशेषताएँ है, जिसने समीक्षक तथा अनुस धित्सु विद्वानो को बहुत आकृष्ट किया है। डा० विण्टरनित्ज ने इसे श्रमणकाव्य के रूप मे निरूपित किया है तथा महाभारत, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि के साथ इसकी तुलना की है।

उत्तराध्ययन का महत्व केवल इन शताब्दियो मे ही नही उभरा है प्रत्युत बहुत पहले से स्वीकार किया जाता रहा है। निर्युक्तिकार ने तीन गाथाएँ उल्लिखित करते हुए इसके महत्व का उपपादन किया है "जो जीव भवसिद्धिक हैं-भव्य हैं परित्तससारी है वे उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन पढते हैं। जो जीव अभवसिद्धिक हैं-अभव्य हैं ग्रथिक सत्व हैं—जिनका ग्रथि भेद नही हुआ है जो अनन्त ससारी हैं, सक्लिष्टकर्मा हैं, वे उत्तराध्ययन पढने के अयोग्य हैं। इसलिए (साधक को) जिनप्रणप्त, शब्द और अथ के अनन्त पर्यायो से सयुक्त इस सूत्र को यथाविधि (उपधान आदि तप द्वारा) गुरुजनो के अनुग्रह से अध्ययन करना चाहिये।"[1]

---

[1] जे किर भवसिद्धिया, परित्तससारिआ य भविआ य।
ते किर पढति धीरा, छत्तीस उत्तरज्झयणे ॥ १
जे हुति अभवसिद्धिया गथिअसत्ता अणतससारा।
ते सकिलिट्ठकम्मा अभविया उत्तरज्झाए ॥ २
तम्हा जिणपण्णत्ते, अणतगमपज्जवेहि सजुत्ते।
अज्झाए जहाजोग गुरुपसाया अहिज्जिज्जा ॥ ३

उत्तराध्ययन सूत्र छत्तीस अध्ययनों में विभक्त है। समवायाग सूत्र के छत्तीसवें समवाय में उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के शीर्षकों का उल्लेख है, जो उत्तराध्ययन में प्राप्त अध्ययनों के नामों से मिलते हैं। उत्तराध्ययन के जीवाजीवविभक्ति सज्ञक छत्तीसवें अध्ययन के अन्त में ग्रथित शब्दों में इस ओर सकेत है "भवसिद्धिक जीवों के लिए सम्मत उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन प्रादुर्भूत कर ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ भगवान् महावीर परिनिर्वृत-मुक्त हो गये।"[1] उत्तराध्ययन के नाम सम्बन्धी विश्लेषण के प्रसग में यह चर्चित हुआ ही है कि भगवान् महावीर ने अपने अन्त समय में इन छत्तीस अध्ययनों का व्याख्यान किया।

निर्युक्तिकार का अभिमत

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का अभिमत उपर्युक्त पारम्परिक मान्यता के प्रतिकूल है। उन्होंने इस सम्बन्ध में निर्युक्ति में लिखा है "उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अग-प्रभव हैं, कुछ जिन भाषित हैं, कुछ प्रत्येकबुद्धों द्वारा निर्देशित हैं, कुछ सवाद प्रसूत हैं। इस प्रकार बन्धन से छूटने का मार्ग बताने के हेतु उनसे छत्तीस अध्ययन निर्मित हुए।"[3]

चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर और बृहद्वृत्तिकार वादिवैताल श्री शान्तिसूरि ने निर्युक्तिकार के मत को स्वीकार किया है। उनके अनुसार उत्तराध्ययन के दूसरे परिषहाध्ययन की रचना द्वादशागी के बारहवें अग दृष्टिवाद के कर्मप्रवादसज्ञक पूर्व के ७० वें प्राभृत के आधार पर हुई है। अष्टम कापिलीय अध्ययन कपिल नामक प्रत्येक

---

१ इह पाउकरे बुद्धे णायए परिणिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धिय सम्मए॥

२ जन-परम्परा में ऐसा माना जाता है कि दीपावली की अन्तिम रात्रि में भगवान् महावीर ने इन छत्तीस अध्ययनों का निरूपण किया।

३ अगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥

—निर्युक्ति, गाथा ४

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित है। दसवां द्रुमपुष्पिका अध्ययन स्वयं अर्हत् महावीर द्वारा भाषित है। तेईसवाँ केशि गौतमीय अध्ययन संवादरूप में संकलित है।

'भद्रबाहुना प्रोक्तानि' का अभिप्राय

'भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि"—इस प्रकार का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे कुछ विद्वान् सोचते हैं कि उत्तराध्ययन के रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। सबसे पहले विचारणीय यह है कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति के लेखक भद्रबाहु हैं। जैसा कि पूर्व सूचित किया गया है, वे उत्तराध्ययन की रचना में अंगप्रभवता जिन भाषितता, प्रत्येकबुद्ध प्रतिपादितता, संवाद निष्पन्नता आदि कई प्रकार के उपपादक हेतुओं का आख्यान करते हैं। उपर्युक्त कथन से 'भद्रबाहुना' के साथ 'प्रोक्तानि' क्रिया पद प्रयुक्त हुआ है। प्रोक्तानि का अर्थ 'रचितानि' नहीं होता। प्रकर्षेण उक्तानि—प्रोक्तानि के अनुसार उसका अर्थ विशेष रूप से व्याख्यात, विवेचित या अध्यापित होता है। शाकटायन[1] और सिद्ध हेमशब्दानुशासन[2] आदि व्याकरणों में यही आशय स्पष्ट किया गया है। इस विवेचन के अनुसार आचार्य भद्रबाहु उत्तराध्ययन के प्रकृष्ट व्याख्याता, प्रवक्ता या प्राध्यापयिता हो सकते हैं, रचयिता नहीं।

कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं, उत्तराध्ययन के पूर्वार्द्ध के अठारह अध्ययन प्राचीन हैं तथा उत्तरार्द्ध के अठारह अध्ययन अर्वाचीन। इसके लिए भी कोई प्रमाण भूत या इत्थंभूत भेद रेखा मूलक तथ्य या ठोस आधार नहीं मिलते।

विमर्ष समीक्षा

समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन करें, तो यह समग्र आगम भगवान् महावीर द्वारा ही भाषित हुआ हो या किसी एक व्यक्ति ने इसकी

---

१ टः प्रोक्ते ३/१/६९

— शाकटायन

२ तेन प्रोक्ते ६/३/१८

—सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

रचना की हो, ऐसा कम सम्भव प्रतीत होता है। कारण स्पष्ट है, यहाँ सर्वत्र एक जैसी भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। अर्द्धमागधी प्राकृत का जहाँ अत्यन्त प्राचीन रूप इसमे सुरक्षित है, वहाँ यत्र-तत्र भाषा के अर्वाचीन स्पात्मक प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि इस आगम की रचना एक ही समय मे नहीं हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर इसमे कुछ जुड़ता रहा है। इस प्रकार सकलित होता हुआ यह ग्रन्थ परिपूर्ण आगम के रूप मे अस्तित्व मे आता है। पर, ऐसा कब-कब हुआ, किन किन के द्वारा हुआ, इस विषय मे अभी कोई भी अकाट्य प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सकता। सार रूप मे इस प्रकार कहना युक्तियुक्त लगता है कि इसकी रचना मे अनेक तत्त्व-ज्ञानियो और महापुरुषो का योगदान है, जो सम्भवत किसी एक ही काल के नहीं थे।

विषय-वस्तु

जीवन की आवश्यकता, दुष्ट कर्मो के दूषित परिणाम, अज्ञानी का ध्येय शून्य जीवन, भोगासक्ति का कटुपित विपाक, भोगी की बकरे के साथ तुलना, अधम गति मे जाने वाले जीव के विशिष्ट लक्षण, ...त की दुर्लभता, धर्म-श्रुति, श्रद्धा, सयमोन्मुखता का महत्व, ... योग्यता, सयम का स्वरूप, सदाचार-सम्पन्न व्यक्ति को ... सुख, ... अज्ञानी के लक्षण, ज्ञान का सुन्दर ... विवाद का दुष्परिणाम, आदर्श श्रमण, श्रमण-जीवन को दूषित ... प्रवचन-माताएँ, सच्चा यज्ञ, ... निरत भिक्षु की दिन चर्या, ... का पथ, तपश्चर्या के भिन्न ... उपेक्ष्य आदि का विवेक, ..., आदि का मूल, कर्म- ... मृत्यु सफल मृत्यु ... मे बड़ा मार्मिक एव

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित है। दशवा द्रुमपुष्पिका अध्ययन स्वय अर्हत् महावीर द्वारा भाषित है। तईसवा केशि गौतमीय अध्ययन सवादरूप मे आकलित है।

'भद्रबाहुना प्रोक्तानि' का अभिप्राय

"भद्रबाहुना प्रोक्तानि भाद्रबाहवानि उत्तरा ययनानि"—इस प्रकार का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे कुछ विद्वान् सोचते ह कि उत्तराध्ययन के रचयिता आचाय भद्रबाहु है। सबसे पहले विचारणीय यह है कि उत्तराध्ययन की नियुक्ति के लेखक भद्रबाहु है। जसा कि पूव सूचित किया गया है, व उत्तराध्ययन की रचना मे अगप्रभवना जिन भाषितता, प्रत्येकबुद्ध प्रतिपादितता, सवाद निष्पन्नता आदि कई प्रकार के उपपादक हेतुओ का आख्यान करत है। उपयुक्त कथन स 'भद्रबाहुना' के साथ 'प्रोक्तानि' क्रिया पद प्रयुक्त हुआ ह। प्रोक्तानि का अथ 'रचितानि' नही होता। प्रकर्षेण उक्तानि—प्रोक्तानि के अनुसार उसका अथ विशेष रूप से व्याख्यात, विवेचित या अध्यापित होता ह। शाकटायन[1] और सिद्ध हमशब्दानुशासन आदि व्याकरणो मे यही आशय स्पष्ट किया गया ह। इस विवेचन के अनुसार आचाय भद्रबाहु उत्तरा ययन के प्रकृष्ट व्याख्याता, प्रवक्ता या प्राध्यापयिता हो सकते ह रचयिता नही।

कुछ विद्वान् ऐसा मानते हे उत्तराध्ययन के पूर्वार्द्ध के अध्ययन प्राचीन है तथा उत्तरार्द्ध के अठारह अध्ययन अर्वाचीन लिए भी कोइ प्रमाण भूत या तथ्यभूत भद-रेखा मूलक तथ्य आधार नही मिलते।

विमर्श समीक्षा

समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन करें, तो यह समग्र वान् महावीर द्वारा ही भाषित हुआ हो या किसी एक ...

---

१ ट प्रोक्त ३/१/६९

२ हन प्राक्ते ६/३/१८

रचना की हो, ऐसा कम सम्भव प्रतीत होता है। कारण स्पष्ट है, यहा सवत्र एक जसी भाषा का प्रयोग नही हुआ है। अद्ध मागधी प्राकृत का जहा अत्यन्त प्राचीन रूप इसमे सुरक्षित है, वहा यत्र तत्र भाषा के अर्वाचीन रूपात्मक प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते ह। इससे यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि इस आगम की रचना एक ही समय म नही हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर इसमे कुछ जुडता रहा है। इस प्रकार सकलित होता हुआ यह एक परिपूण आगम के रूप मे अस्तित्व मे आता है। पर, ऐसा कब कब हुआ किन किन के द्वारा हुआ, इस विषय मे अभी कोई भी अकाटय प्रमाण उपस्थित नही किया जा सकता। सार रूप मे इस प्रकार कहना युक्तियुक्त लगता है कि इसकी रचना मे अनेक तत्त्व-ज्ञानियों और महापुरुषों का योगदान है, जो सम्भवत किसी एक ही काल के नही थे।

विषय-वस्तु

जीवन की आवश्यकता, दुष्ट कर्मो के दूषित परिणाम, अज्ञानी का ध्येय शून्य जीवन, भोगासक्ति का कलुषित विपाक, भोगीकी नकरे के साथ तुलना, अधम गति मे जाने वाले जीव के विशिष्ट लक्षण, मानव-जीवन की दुलभता, धम श्रुति,श्रद्धा, सयमोन्मुखता का महत्व, गही साधक की योग्यता, सयम का स्वरूप, सदाचार सम्पन्न व्यक्ति की गति, देव-गति के सुख, ज्ञानी एव अज्ञानी के लक्षण, ज्ञान का सुन्दर परिणाम, जातिवाद की हेयता, जातिवाद का दुष्परिणाम, आदश भिक्षु, ब्रह्मचय समाधि के स्थान, पापी श्रमण, श्रमण जीवन को दूषित करने वाले सूक्ष्म दोष आठ प्रकार की पवचन माताएँ, सच्चा यज्ञ याजक, यज्ञाग्नि आदि का स्वरूप, साधना निरत भिक्षु की दिन चर्या, सम्यक्त्व पराक्रम का स्वरूप, आत्म विकास का पथ तपश्चर्या के भिन्न भिन्न प्रयोग, चरण विधि—ग्राह्य, परिहय उपेक्ष्य आदि का विवेक, प्रमाद-स्थान—तृष्णा, मोह, क्रोध, राग, द्वेष, आदि का मूल, कम-विस्तार, लेश्या, अनासक्तता, लोक पदाथ, निष्फल मृत्यु सफल मृत्यु प्रभृति अनेक विषयो का विभिन्न अध्ययनो मे बडा मार्मिक तल-तलस्पर्शी व्याख्यान-विश्लेषण हुआ है।

दृष्टान्त कथानक

दूसरा महत्वपूर्ण अंग है, इसका रूपक, दृष्टान्त व कथानक भाग। इनके माध्यम से तत्त्व-ज्ञान और आचार धर्म का विशद विवेचन हुआ है जिसका अनेक दृष्टियो से बड़ा महत्त्व है। पच्चीसवां अध्ययन इसका उदाहरण है, जहां अध्यात्म-यज्ञ उसके अंगोपांगो एव उपकरणो का हृदयस्पर्शी विवेचन है। इस प्रकार के अनेक प्रकरण है जहां उपमाओं तथा रूपकों का ऐसा सुन्दर और सहज सन्निवेश है कि विवेच्य विषय साक्षात् उपस्थित हो जाता है। नवम अध्ययन मे इन्द्र और राजर्षि नमि का प्रकरण अनासक्त तितिक्षु एव मुमुक्षु जीवन का एक सजीव तथा असाधारण चित्र प्रस्तुत करता है। बारहवा हरिकेशीय अध्ययन उत्तराध्ययन का एक क्रान्तिकारी अध्याय है, जहां चाण्डाल कुलोत्पन्न मुनि हरिकेशबल के तप प्रभाव और साधना-निरत जीवन की गरिमा इतनी उत्कृष्टतया उपस्थित है कि जाति कुल आदि का मद दम्भ और अहंकार स्वयमेव निस्तेज तथा निरस्त हो जाते हैं।

बाईसवा रथनेमीय अध्ययन आत्म-पराक्रम उद्बुद्ध/जागृत करने की प्रेरणा के साथ साथ अनेक दृष्टियो से बहुत महत्त्वपूर्ण है। तीर्थंकर अरिष्टनेमि की जीवन झांकी, उनके द्वारा लौकिक एषणा और कामना का परित्याग, श्रमण रथनेमि का अन्तर्दौर्बल्य, वासना का उभार राजीमती द्वारा उद्बोधन प्रभृति ऐसे रोमांचक प्रसंग है, जिनकी भावना और प्रज्ञा, दोनों के प्रकर्ष की दृष्टि से कम गरिमा नही है।

तेईसवां केशि गौतमीय अध्ययन है जो भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण महामुनि केशी तथा भगवान् महावीर के अनन्य अन्तेवासी गणधर गौतम के परस्पर मिलन प्रश्नोत्तर—संवाद आदि बहुमूल्य सामग्री लिये हुए है। तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्व की परम्परा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की परम्परा मे किस प्रकार समन्वित रूप मे विलीन होती जा रही थी, प्रस्तुत अध्ययन इसका ज्वलन्त साक्ष्य है। चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रतों के तुलनात्मक परिशीलन की दृष्टि से भी यह अध्ययन पठनीय है।

श्रमण को कामराग या विषय वासना से बचते रहने का उपदेश दिया गया है। उस सन्दभ मे रथनेमि और राजीमती का प्रसग भी सक्षेप म सकेतित है। यह अध्ययन उत्तराध्ययन के बाईसवें रथनेमि' अध्ययन के बहुत निकट है। उत्तराध्ययन में रथनेमि और राजीमती का इतिवत्त अपेक्षाकृत विस्तार से वर्णित है, पर, दोनो की मूल ध्वनि एक ही है।

चतुथ अध्ययन का शीपक षड्जीवनिकाय' है। इसमें पट्कायिक जीवो का सक्षेप में वणन करने के उपरान्त उनको हिंसा के प्रत्याख्यान का प्रतिपादन है। इससे सलग्न प्रथम अहिंसा महाव्रत का विवेचन है। तदनन्तर पाच महाव्रतों का वणन है। आरम्भ-समारम्भ से पाप-बन्ध का प्रतिपादन करते हुए उससे निवृत्त होने का सुदर चित्रण है। यह अध्ययन आचाराग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पद्रहवें अध्ययन के उत्तराद्ध से तुलनीय है। इस अध्ययन के पव भाग में भगवान् महावीर का जीवन-वृत्त विस्तार से उल्लिखित है तथा उत्तर भाग में महावीर द्वारा गौतम आदि निग्रन्थो को उपदिष्ट किये गये पाच महाव्रतो तथा पृथ्वीकाय प्रभृति षड्-जीवनिकाय का विश्लेषण है। दशवैकालिक के चतुथ अध्ययन की सामग्री का सकलन आचाराग के इसी अध्ययन से हुआ हो, ऐसा सम्भाव्य प्रतीत होता है।

पचम अध्ययन का शीर्षक 'पिण्डैषणा' है। इसमे श्रमण की भिक्षा-चर्या के सदभ मे सभी पहलुओ से बडा सुदर प्रकाश डाला गया है। भिक्षा के लिये किस प्रकार जाना, नही जाना, किस-किस स्थिति में भिक्षा लेना, किस किस में नही लेना, इत्यादि का समीचीन विशद रूप में विवेचन किया गया है। इस अध्ययन की विषय वस्तु आचाराग के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के प्रथम अध्ययन से आकलित प्रतीत होती ह। उसकी सज्ञा भी 'पिण्डपणा' ही है।

सातवें अध्ययन का शीर्षक 'वाक्य शुद्धि' है। इसमे श्रमण के द्वारा किस प्रकार की भाषा प्रयोज्य है किस प्रकार की अप्रयोज्य, इस वणन के साथ सयमी के विनय और पवित्रता-पूण आचार पर प्रकाश

डाला गया है। जिस जिस प्रकार के भाषा-प्रयोग और व्यवहार-चर्या का उल्लेख किया गया है, वह श्रमण के अनासक्त, निर्लिप्त, अमूर्च्छित, जागरूक तथा आत्म लीन जीवन के विकास से सम्बद्ध है। आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'भाषाजात' है। उसमे साधु द्वारा प्रयोग करने योग्य, न करने योग्य भाषा का विश्लेषण है। दशवकालिक के उक्त अध्ययन, मे किसी अपेक्षा से इसकी अवतारणा हुई हो, ऐसा अनुमेय है।

'विनय-समाधि' नवम अध्ययन है। इसमे गुरु के प्रति शिष्य का व्यवहार सदा विनय-पूर्ण रहे इस पर सुन्दर रूप मे प्रकाश डाला गया है। विनय-पूर्ण व्यवहार के सुलाभ और अविनय-पूर्ण व्यवहार के दुर्लभ हृद्य उपमाओ द्वारा वर्णित किये गये है। यह अध्ययन उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन 'विनय श्रुत' से विशेष मिलता-जुलता है, जहा गुरु के प्रति शिष्य के विनयाचरण की उपादेयता और अविनयाचरण की वर्ज्यता का विवेचन है।

दशम अध्ययन का शीर्षक 'स भिक्षु' है। अर्थात् इस अध्ययन मे भिक्षु के जीवन उसकी दैनन्दिन चर्या, व्यवहार, सयमानुप्राणित अध्यवसाय, आसक्ति-वर्जन, अलोलुपता आदि का सजीव चित्रण है। दूसरे शब्दो मे भिक्षु के यथार्थ रूप का एक रेखाकन है, जो साधक के लिये बडा उत्प्रेरक है। उत्तराध्ययन का पन्द्रहवा अध्ययन भी इसी प्रकार का है। उसका शीर्षक भी यही है। दोनो का बहुत साम्य है। भाव ही नही, शब्द-रचना तथा छन्द-गठन मे भी अनेक स्थानो पर एकरूपता है। ऐसा अनुमान करना अस्वाभाविक नही है कि दशवैकालिक का दशवा अध्ययन उत्तराध्ययन का पन्द्रहवे अध्ययन का बहुत कुछ रूपान्तरण है।

चूलिकाएँ

रति-वाक्या

दशम अध्ययन की समाप्ति अनन्तर प्रस्तुत सूत्र मे दो चूलिकाएँ हैं। पहली चूलिका 'रति वाक्या' है। अध्यात्म रस मे पगे

के लिए भिक्षु-जीवन अत्यन्त आह्लादमय है। पर, भौतिक दृष्टि से उसमे अनेक कठिनाइया हैं, पद-पद पर असुविधाएँ हैं। क्षण-क्षण प्रतिकूलताओ का सामना करना पडता है। दैहिक भोग अग्राह्य हैं ही। ये सब प्रसग ऐसे हैं, जिसके कारण कभी कभी मानव मन मे दुर्बलता उभरने लगती है। यदि कभी कोई भिक्षु ऐसी मन स्थिति मे आ जाएँ, तो उसे सयम मे टिकाये रखने के लिए, उसमे पुन दृढ मनोबल जगाने के लिए उसे जो अन्त-प्रेरक तथा उद्बोधक विचार दिये जाने चाहिए, वही सब प्रस्तुत चूलिका मे विवेचित है।

सासारिक जीवन की दु खमयता, विषमता, भोगो की नि सारता, अल्पकालिकता, परिणाम-विरसता, अनित्यता, सयमी जीवन की सारमयता, पवित्रता, आदेयता आदि विभिन्न पहलुओ पर विशद प्रकाश डाला गया है तथा मानव मे प्राणपण से धर्म का प्रतिपालन करने का भाव भरा गया है। वैषयिक भोग, वासना, लौकिक सुविधा और दैहिक सुख से आकृष्ट होते मानव को उनसे हटा आत्म रमण, सयमानुपालन तथा तितिक्षामय जीवन मे पुन प्रत्यावृत्त करने में बडी मनोवैज्ञानिक निरूपण शैली का व्यवहार हुआ है, जो रोचक होने के साथ शक्ति-सचारक भी है। सयम में रति-अनुराग-तन्मयता उत्पन्न करने वाले वाक्यो की सरचना होने के कारण ही सम्भवत इस चूलिका का नाम 'रति वाक्या' रखा गया हो।

विविक्तचर्या

दूसरी चूलिका विविक्तचर्या है। विविक्त का अर्थ नियुक्त, पृथक्, निवृत्त, एकाकी, एकान्त स्थान या विवेकशील है। इसका आशय उस जीवन से है जो सासारिकता से पृथक् है। दूसरे शब्दो मे निवृत्त है, अतएव विवेकशील है। इस चूलिका मे श्रमण जीवन को उद्दिष्ट कर अनुस्रोत में न वह प्रतिस्रोतगामी बनने, आचार-पालन में पराक्रमशील रहने, अल्प-सीमित उपकरण रखने, गृहस्थ से वैयावृत्य-शारीरिक सेवा न लेने सब इन्द्रियो को सुसमाहित कर सयम-जीवन को सदा सुरक्षित बनाये रखने आदि के सन्दर्भ में अनेक ऐसे उल्लेख किये गये हैं, जिनका अनुसरण करता हुआ भिक्षु प्रतिबुद्धजीवी बनता है।

विशेषता महत्त्व

प्रति संक्षेप में जैन-तत्त्व दर्शन एवं आचार शास्त्र व्याख्यात करने की अपनी असाधारण विशेषता के साथ-साथ शब्द-रचना, शैली तथा भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी इस सूत्र का कम महत्त्व नहीं है। इसमें प्रयुक्त भाषा के अनेक प्रयोग अति प्राचीन प्रतीत होते हैं, जो आचारांग तथा सूत्रकृतांग जैसे प्राचीनतम आगम ग्रन्थों में हुए भाषा प्रयोगों से तुलनीय हैं। उत्तराध्ययन में हुए भाषा के प्राचीनता द्योतक प्रयोगों के समकक्ष इसमें भी उसी प्रकार के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं। यह अर्द्ध मागधी भाषा विज्ञान से सम्बद्ध एक स्वतन्त्र विषय है, जिस पर विशेष चर्चा करना प्रसंगोपात नहीं है। प्राकृत के सुप्रसिद्ध अध्येता एवं वैयाकरणी डा० पिशल ने उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक को प्राकृत के भाषा शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बतलाया है।

व्याख्या-साहित्य

दशवैकालिक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना की। श्री अगस्त्यसिंह तथा श्री जिनदास महत्तर द्वारा चूर्णियां लिखी गयीं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने टीका की रचना की। श्री समयसुन्दर गणी ने दीपिका लिखी। श्री तिलकाचार्य या श्री तिलकसूरि, श्री सुमतिसूरि तथा श्री विनयहंस प्रभृति विद्वानों द्वारा वृत्तियों की रचना हुई। यापनीय संघ के श्री अपराजित, जो श्री विजयाचार्य के नाम से ख्यात हैं, ने भी टीका की रचना की, जिसका उन्होंने 'विजयोदया' नामकरण किया। अपने द्वारा विरचित "भगवती आराधना" टीका में उन्होंने इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है। श्री ज्ञानसम्राट् तथा श्री-राजहंस महोपाध्याय ने इस पर गुजराती टीकाओं की रचना की। श्री ज्ञानसम्राट् द्वारा रचित टीका 'बालावबोध' के नाम से विश्रुत है।

प्रथम प्रकाशन

पाश्चात्य विद्वानों का प्राच्यविद्याओं के अन्तर्गत जैन वाङ्मय के परिशीलन की ओर भी झुकाव रहा है। उन्होंने इस ओर विशेष

व्याख्या-साहित्य

उत्तराध्ययन सूत्र पर व्याख्यात्मक साहित्य विपुल परिमाण में विद्यमान है। आचार्य भद्रबाहु ने इस पर नियुक्ति लिखी। श्री जिनदास महत्तर ने चूर्णि की रचना की। थारापद्र-गच्छ से सम्बद्ध वादिवैताल विरुदालकृत श्री शान्तिसूरि ने 'पाई' या 'शिष्यहिता' नामक टीका की रचना की, जो उत्तराध्ययन-बृहद्-वृत्ति भी कहलाती है। श्री शान्ति सूरि का स्वर्गवास काल ई० सन् १०४० माना जाता है। इस टीका के आधार पर, श्री देवेन्द्र गणी ने, जो आगे चल कर श्री नेमिचन्द्र सूरि के नाम से विख्यात हुए, 'सुखबोधा' नामक टीका लिखी, जो सन् १०७३ मे समाप्त हुई।

उत्तराध्ययन पर टीकाए लिखने वाले अनेक जैन विद्वान् हैं, जिनमे लक्ष्मीवल्लभ, जयकीर्ति, कमलसयम, भावविजय, विनयहस तथा हर्षकुल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पाश्चात्य विद्वानो ने भी इस पर कार्य किया है। उदाहरणार्थ प्रो० शर्पेन्टियर ने मूल पाठ अग्रेजी प्रस्तावना सहित प्रस्तुत किया है। आगम-वाड्मय के विख्यात अन्वेषक डा० जैकोबी ने अग्रेजी मे अनुवाद किया, जो प्रो० मैक्समूलर के सम्पादकत्व में Sacred books of the East के पैंतालीसवें भाग में आक्सफोर्ड से सन् १८९५ मे प्रकाशित हुआ।

२ आवस्सय (आवश्यक)

नाम सार्थकता

अवश्य से आवश्यक शब्द बना है। अवश्य का अर्थ है, जिसे किये विना बचाव नहीं जो जरूर किया जाना चाहिए। इसके अनुसार आवश्यक का आशय श्रमण द्वारा करणीय उन भाव क्रियानुष्ठानो से है जो श्रमण जीवन के निर्बाध तथा शुद्ध निवहण की दृष्टि से आवश्यक हैं। क्रियानुष्ठान सख्या मे छ हैं, अत इस सूत्र को षडावश्यक भी कहा जाता है। यह छ विभागो मे विभक्त है,

जिसमें क्रमश सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का वर्णन है।

सामायिक

अन्तरतम में समभाव की अवतारणा सामायिक है। एतदर्थ साधक मानसिक, वाचिक तथा कायिक दृष्टि से, कृत, कारित एव अनुमोदित रूप से समग्र सावद्य—सपाप योगों—प्रवृत्तियों से पराङ्मुख रहने का प्रथम आवश्यक में वर्णन है।

चतुर्विंशति-स्तव

द्वितीय आवश्यक में लोक मे धर्म का उद्योत करने वाले चौबीस तीर्थंकरो का वर्णन है, जिससे आत्मा मे तदनुरूप दिव्य भाव का उद्रेक होता है।

वन्दन

तीसरा आवश्यक वन्दन से सम्बद्ध है। शिष्य गुरु-चरणो मे स्थित होता है, उनसे क्षमा-याचना करता है, उनके सयमोपकरणभूत देह की सुख-पृच्छा करता है।

प्रतिक्रमण

चौथे आवश्यक मे प्रतिक्रमण का विवेचन है। प्रतिक्रमण का अर्थ वहिर्गामी जीवन से अन्तर्गामी जीवन मे प्रत्यावृत्त होना है अर्थात् साधक यदि प्रमादवश शुभ योग से चलित होकर अशुभ योग को प्राप्त हो जाए, तो वह पुन शुभ योग मे सस्थित होता है। यदि उसके द्वारा ज्ञात अज्ञात रूप में श्रमण धर्म की विराधना हुई हो, किसी को कष्ट पहुँचाया गया हो, स्वाध्याय आदि में प्रमादाचरण हुआ हो, तो वह (प्रतिक्रमण करने वाला साधक) उनके लिये 'मिच्छामि दुक्कड'—मिथ्या मे दुष्कृतम्—ऐसी भावना से उद्भावित होता है, जिसका अभिप्राय जीवन को सयमानुकूल, पवित्र और सात्विक भावना से आप्यायित बनाये रखना है।

कायोत्सर्ग

पाचवां आवश्यक कायोत्सग से सम्बद्ध है। कायोत्सग का आशय है—देह-भाव का विसर्जन और आत्म भाव का सर्जन। यह ध्यानात्मक स्थिति है, जिसमे साधक दैहिक चाचल्य और अस्थैर्य का वजन कर निश्चलता में स्थित रहना चाहता है।

प्रत्याख्यान

छठे आवश्यक में सावद्य—सपाप कार्यों से निवृत्तता तथा अशन पान, खाद्य, स्वाद्य आदि के प्रत्याख्यान की चर्चा है।

व्याख्या-साहित्य

आचाय भद्रबाहु ने आवश्यक पर निर्युक्ति की रचना की। इस पर भाष्य भी रचा गया। आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण द्वारा अत्यन्त विस्तार और गम्भीरता के साथ "विशेषावश्यक भाष्य" की रचना की गयी, जो जैन साहित्य मे नि सन्देह एक अद्भुत कृति है। श्री जिनदास महत्तर ने चूर्णि की रचना की। आचाय हरिभद्रसूरि ने इस पर टीका लिखी, जो 'शिष्यहिता' के नाम से विश्रुत है। इसमें आवश्यक के छ प्रकरणो का पैंतीस अध्ययनो में सूक्ष्मतया विवेचन—विश्लेपण किया गया है। वहा प्रासगिक रूप में प्राकृत की अनेक प्राचीन कथाए भी दी गयी है। आचाय मलयगिरि ने भी टीका की रचना की। श्री माणिक्यशेखरसूरि द्वारा इसकी निर्युक्ति पर दीपिका की रचना की गयी। श्री तिलकाचाय द्वारा इस पर लघुवृत्ति की रचना हुई।

३ दसवेयालिय (दशवैकालिक)

नाम अन्वर्थकता

दश और वैकालिक, इन दो शब्दो के योग से नाम की निष्पत्ति हुई है। सामान्यत दश शब्द दश अध्ययनो का सूचक है और वैकालिक का सम्बन्ध रचना, निर्यूहण या उपदेश से है। विकाल का अर्थ सन्ध्या है। वैकालिक विकाल का विश्लेपण है। ऐसा माना जाता

है कि सन्ध्या समय में अध्ययन किये जाने के कारण यह नाम प्रचलित हुआ। ऐसी भी मान्यता है कि दश विकालो या सन्ध्याओ में रचना, निर्यूहण या उपदेश किया गया। अत यह दशवकालिक कहा जाने लगा। इसके रचनाकार या निर्यूहक आचाय शय्यम्भव थे, जिन्होंने अपने पुत्र बाल मुनि मनक के लिए इसकी रचना की। अगबाह्यगत उत्कालिक सूत्रो में दशवैकालिक का प्रथम स्थान है।

दश अध्ययनो तथा दो चूलिकाओ में यह सूत्र विभक्त है। दश अध्ययन सकलनात्मक हैं। चूलिकाएँ स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती हैं। चूलिकाओ के रचे जाने के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार वे आचाय शय्यम्भव कृत ही होनी चाहिए। इतना सम्भावित हो सकता है, चूलिकाओ की रचना दश अध्ययनो के पश्चात् हुई हो। सूत्र और चूलिकाओ की भाषा इतनी विसदृश नही है कि उससे दो भिन्न रचयिताओ का सूचन हो। कुछ विद्वान् इस मत को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार चूलिकाएँ किसी अन्य लेखक की रचनाएँ हैं, जो दश अध्ययनो के साथ जोड दी गयी।

सकलन आधार पूर्व श्रुत

आचाय भद्रबाहु द्वारा निर्युक्ति मे किये गये उल्लेख के अनुसार दशवकालिक के चतुथ अध्ययन का आधार आत्म-प्रवाद-पूव, पचम अध्ययन का आधार आत्म प्रवाद पूव, सप्तम अध्ययन का आधार सत्य प्रवाद पूव तथा अन्य अध्ययनो का आधार प्रत्याख्यान पूव की तृतीय वस्तु है।

दूसरा आधार अन्य आगम

श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव ने अनेकानेक आगमो का दोहन कर सार रूप में दशवकालिक को सग्रथित किया। दशवैकालिक मे वर्णित विषयो का यदि सूक्ष्मता से परीक्षण किया जाए तो प्रतीत होगा कि, वे विविध आगम ग्रन्थो से बहुत निकटतया सलग्न हैं। दशवकालिक के दूसरे अध्ययन का शीर्षक 'श्रामण्यपूर्वक' है। उसमे

अध्यवसाय भी किया है, जो इस एक उदाहरण से स्पष्ट है कि जर्मन विद्वान् डा० अर्नेस्ट ल्यूमेन (Dr Ernest Leumann) ने सन् १८९२ मे जमन ओरियन्टल सोसायटी के जर्नल (Journal of the German Oriental Society) मे सबसे पहले दशवैकालिक का प्रकाशन किया। उससे पहले यह ग्रन्थ केवल हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे था, मुद्रित नही हो पाया था। उसके पश्चात् भारत मे इसका प्रकाशन हुआ। उत्तरोत्तर अनेक सस्करण निकलते गये। सन् १९३२ मे सुप्रसिद्ध जमन विद्वान्, जैन आगम-वाङ्मय व प्राकृत के प्रमुख अध्येता डा० शुब्रिग के सम्पादकत्व मे प्रस्तावना आदि के साथ इसका जर्मनी मे प्रकाशन हुआ।

४ पिंडनिज्जुत्ति (पिण्ड-निर्युक्ति)

नाम व्याख्या

पिण्ड शब्द जन पारिभाषिक दृष्टि से भोजनवाची है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे आहार एषणीयता, अनेषणीयता आदि के विश्लेषण के सन्दर्भ मे उद्गम-दोष, उत्पादन दोष, एषणा-दोष और ग्रास एषणा दोष आदि श्रमण जीवन के आहार, भिक्षा आदि महत्वपूर्ण पहलुओ पर विशद विवेचन किया गया है। मुख्यत दोषो से सम्बद्ध होने के कारण इस ग्रन्थ की अनेक गाथाए सुप्रसिद्ध दिगम्बर लेखक वट्टकेर के मूलाचार की गाथाओ से मिलती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे छ सौ इकहत्तर गाथाएँ हैं। यह वास्तव मे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है। दशवैकालिक के पचम अध्ययन का नाम 'पिण्डैषणा' है। इस अध्ययन पर आचाय भद्रबाहु की नियुक्ति बहुत विस्तृत हो गयी है। यही कारण है कि इसे 'पिण्ड नियुक्ति' के नाम से एक स्वतन्त्र आगम के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। नियुक्ति और भाष्य की गाथाओ का इस प्रकार विमिश्रण हो गया है कि उन्हें पृथक्-पृथक् छाँट पाना कठिन है।

पिण्ड नियुक्ति आठ अधिकारो मे विभक्त है, जिनके नाम उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम तथा कारण

हैं। भिक्षा से सम्बद्ध अनेक पहलुओ का विस्तृत तथा साथ ही-साथ रोचक वणन है। वहा उद्गम और उत्पादन दोप के सोलह-सोलह तथा एपणा दोप के दश भेदो का वणन है। भिक्षागत दोपो के सदभ मे स्थान स्थान पर उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि अमुक मुनि उस प्रकार के दोप का सेवन करने के कारण प्रायश्चित्त के भागी हुए।

गृहस्थ के यहा से भिक्षा किस किस स्थिति मे ली जाए, इस सम्बध मे महत्वपूण चर्चाएँ हैं। बताया गया है कि यदि गृह-स्वामिनी भोजन कर रही हो, दही विलो रही हो, आटा पीस रही हो, चावल कूट रही हो, रुई धुन रही हो, तो साधु को उससे भिक्षा नही लेनी चाहिए। इसी प्रकार अत्यत नासमझ बालक से, अशक्त वृद्ध से, उन्मत्त से, जिसका शरीर काप रहा हो, जो ज्वराक्रात हो, नेत्रहीन हो कष्ट पीडित हो, ऐसे व्यक्तियो से भी भिक्षा लेना अविहित है। भविष्य कथन, चिकित्सा-कौशल, मत्र, तत्र, वशीकरण आदि से प्रभावित कर भिक्षा लेना भी वर्जित कहा गया है।

कुछ महत्वपूर्ण उल्लेख

प्रसगोपात्त सप दश आदि को उपशात करने के लिए दीमक के घर की मिट्टी, वमन शात करने के लिए मक्खी की बीठ, टूटी हुई हड्डी जोडने के लिए किसी की हड्डी, कुष्ट रोग को मिटाने के लिए गोमूत्र का प्रयोग आदि साधुओ के लिए निर्दिष्ट किये गये हैं।

साधु जिह्वा स्वाद से अस्पृष्ट रहता हुआ किस प्रकार अनासक्त तथा अमूर्छित भाव से भिक्षा ग्रहण करे, गृहस्थ पर किसी भी प्रकार का भार उत्पन्न न हो, वह उनके लिए असुविधा, कष्ट या प्रतिकूलता का निमित्त न बने, उसके कारण गृहस्थ के घर मे किसी प्रकार की अव्यवस्था न हो जाए, इत्यादि का जसा मनोवज्ञानिक एव व्यावहारिक विवेचन इस ग्रथ मे हुआ है, वह जन श्रमण चर्या के अनुशीलन एव अनुसधान के सदभ मे विशेषत पठनीय है।

पिण्ड नियु क्ति पर आचाय मलयगिरि ने वहद् वृत्ति की रचना की। श्री वीराचाय ने इस पर लघु वृत्ति लिखी है।

ओहनिज्जुत्ति (ओघ-निर्युक्ति)

नाम व्याख्या

ओघ का अर्थ प्रवाह, सातत्य, परम्परा या परम्परा-प्राप्त उपदेश है। इस ग्रन्थ मे साधु-जीवन से सम्बद्ध सामान्य समाचारी का विश्लेषण है। सम्भवतः इसीलिए इसका यह नामकरण हुआ। जिस प्रकार पिण्ड-निर्युक्ति मे साधुओ के आहार-विषयक पहलुओ का विवेचन है, उसी प्रकार इसमे साधु जीवन से सम्बद्ध सभी आचार व्यवहार के विषयो का सक्षेप मे सस्पर्श किया गया है।

पिण्ड निर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का जिस प्रकार अश माना जाता है, उसी प्रकार इसे आवश्यक निर्युक्ति का एक अ श स्वीकार किया जाता है, जिसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। इसमे कुल ८११ गाथाएँ हैं। निर्युक्ति तथा भाष्य की गाथाएँ विमिश्रित हैं, उन्ह पृथक् पृथक कर पाना सहज नही है।

ओघ निर्युक्ति प्रतिलेखन-द्वार, आलोचना द्वार तथा विशुद्धि-द्वार मे विभक्त है। प्रकरणो के नामो से स्पष्ट है कि साधु-जीवन के प्राय सभी चर्या-अ गो के विश्लेषण का इसमे समावेश है।

एक महत्वपूर्ण प्रसग

एक चिर चर्चित प्रसग है, जिस पर इसमे भी विचार किया गया है। वह प्रसग है आत्म रक्षा—जीवन रक्षा का अधिक महत्त्व है या सयम रक्षा का ? दोनो मे से किसी एक के नाश का प्रश्न उपस्थित हो जाए, तो प्राथमिकता किसे देनी चाहिए ? इस विषय मे आचार्यो मे मतभेद रहा है। कुछ ने सयम-रक्षा हेतु मर मिटने को आवश्यक बतलाया है और कुछ ने जीवन-रक्षा कर फिर प्रायश्चित्त लेने का सुझाव दिया है।

ओघ निर्युक्ति मे बतलाया गया है कि श्रमण को सयम का प्रतिपालन सदा पवित्र भाव से करना ही चाहिए, पर यदि जीवन मिटने का प्रसग बन जाए, तो वहा प्राथमिकता जीवन-रक्षा को देनी होगी। यदि जीवन बच गया, तो साधक एक बार सयम च्युत होने

पर भी प्रायश्चित्त, तप आदि द्वारा आत्म शुद्धि या अन्त -सम्माजन कर पुन यथावस्थ हो सकेगा। परिणामो की सात्विकता या भाव विशुद्धि ही तो सयम का आधार है।

विशेष बलपूवक आगे कहा गया है कि साधक का देह सयम पालन के लिए है, भोग के लिए नहीं है। यदि देह ही नहीं रहा, तो सयम पालन का आधार-स्थल ही कहा बचा ? देह-रक्षा या शरीर को नष्ट न होने देने का काय देह के प्रति आसक्ति नहीं है, प्रत्युत सयम के प्रतिपालन की भावना है, अत देह प्रतिपालन इष्ट है। निशीथ चूर्णी मे भी यह प्रसग व्याख्यात हुआ है। वहा भी वर्णित है कि जहा तक हो सके, सयम की विराधना नही करनी चाहिए, पर यदि कोई भी उपाय न हो तो जीवन-रक्षा के लिए वैसा किया जा सकता है।

उपधि निरूपण

सयमी जीवन के निर्वाह हेतु जो न्यूनतम साधन-उपकरण अपेक्षित होते हैं उन्हें उपधि कहा जाता है। प्रस्तुत प्रकरण मे इस विषय का विवेचन है। वस्त्र, पात्र आदि उपकरण श्रमण द्वारा धारण किये जाने चाहिए या नही किये जाने चाहिए, जन परम्परा के अन्तगत श्वेताम्बरो तथा दिगम्बरो मे यह एक विवादास्पद प्रसग है, जिसके सन्दभ मे दोनो ओर से द्विविध विचार धाराए एव समाधान उपस्थित किये जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के इस प्रकरण का तुलनात्मक एव समीक्षात्मक परिशीलन इस विषय मे अनुसन्धित्सा रखने वालो के लिए वस्तुत बडा उपयोगी है। इस प्रकरण मे जिनकल्पी श्रमण, स्थविरकल्पी श्रमण तथा आर्यिका या साध्वी के लिए प्रयोज्य उपकरणो का विवरण है।

जिनकल्पी व स्थविरकल्पी के उपकरण

जिनकल्पी के लिए जो उपकरण विहित हैं, उनका ग्रन्थ मे इस प्रकार उल्लेख है १ पात्र, २ पात्र-बन्ध, ३ पात्र-स्थापन, ४ पात्र केसरिका (पात्र-मुख वस्त्रिका), ५ पटल ६ रजस्त्राण,

७ गोच्छक, ८–१० प्रच्छादक त्रय, ११. रजोहरण तथा १२ मुख-वस्त्रिका। प्राप्त सूचनाओ से विदित होता है कि पटल नामक वस्त्र का उपयोग भोजन-पान को आवृत्त करने के लिए तथा अपेक्षित होने पर गुह्यांग को ढकने के लिए भी होता था।

स्थविर-कल्पी श्रमणो के लिए बारह उपकरण तो ये ही, उनके अतिरिक्त चोलपट्ट और मात्रक नामक दो उपकरण और थे। इस प्रकार उनके लिए चौदह उपकरणो का विधान था।

साध्वी या आर्यिका के उपकरण

जिन कल्पी के लिए निर्देशित बारह उपकरण, स्थविर कल्पी के लिए निर्देशित दो अधिक उपकरणो मे से एक—मात्रक, इन तेरह उपकरणो के अतिरिक्त निम्नाकित बारह अन्य उपकरण साध्वी या आर्यिका के लिए निर्दिष्ट किये गये प्राप्त होते है। उनके लिए कुल पच्चीस उपकरण हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं १४ कमढग, १५ उग्गहणतग (गुह्य अग की रक्षा के लिए नाव की आकृति की तरह), १६ पट्टक (उग्गहणतग को दोनो ओर से ढकने वाला जाघिये की आकृति की तरह), १७ अद्धोरुग (उग्गहणतग और पट्टक के ऊपर पहने जाने वाला) १८ चलनिका (बिना सिला हुआ घुटना तक पहने जाने वाला। बास पर खेल करने वाले भी पहनते थे), १९ अभ्भितर नियसणी (यह आधी जाघो तक लटका रहता है। वस्त्र बदलते समय लोग साध्वियो का उपहास नही करते।), २० बहिर्नियसणी (यह घुटनो तक लटका रहता है और इसे डोरी मे कटि मे बाधा जाता है।), २१ कचुक (वक्षस्थल को ढकने वाला वस्त्र), २२ उवकच्छिय (यह कचुक के समान होता है।), २३ वेकच्छिय (इससे कचुक और उवकच्छिय दोनो ढक जाते हैं।), २४ सघाटी (ये चार होती थी—एक प्रतिश्रय मे, दूसरी व तीसरी भिक्षान्नादि के लिए बाहर जाते समय और चौथी समवसरण मे पहनी जाती थी), २५ खधकरणी (चार हाथ लम्बा वस्त्र जो वायु आदि की रक्षा करने के लिए पहना जाता था। रूपवती साध्वियो को कुब्जा जसी दिखाने के लिए भी इसका उपयोग करते थे।) [1] इन

[1] निर्युक्ति ६७४–७७ भाष्य ३१३–३२०

वस्त्रोपकरणो का स्वरूप, उपयोग, अपेक्षा, विकास प्रभृति विषय श्रमण-जीवन के अपरिग्रही रूप तथा सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य मे विशेष रूप से अध्येतव्य हैं।

व्याख्या साहित्य

ओघ निर्युक्ति पर रचे गये व्याख्या-साहित्य मे श्री द्रोणाचार्य रचित टीका विशेष महत्वपूर्ण है। इसकी रचना चूर्णि की तरह प्राकृत की प्रधानता लिए हुए है अर्थात् वह प्राकृत सस्कृत के मिश्रित रूप मे प्रणीत है। आचार्य मलयगिरि द्वारा वृत्ति की रचना की गई। अवचूरि की भी रचना हुई।

पक्खिय सुत्त (पाक्षिक सूत्र)

आवश्यक सूत्र के परिचय तथा विश्लेषण के अन्तगत प्रतिक्रमण की चर्चा हुई है। आत्मा की स्वस्थता—अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थिति, अन्त परिष्कृति तथा आत्म-जागरण का वह (प्रतिक्रमण) परम साधक है। जैन परम्परा मे प्रतिक्रमण के पाच प्रकार माने गये हैं—१ दैवसिक, २ रात्रिक ३ पाक्षिक ४ चातुर्मासिक तथा ५ सावत्सरिक। पाक्षिक सूत्र की रचना का आधार पाक्षिक प्रतिक्रमण है। इसे आवश्यक सूत्र का एक अङ्ग ही माना जाना चाहिये अथवा उसके एक अङ्ग का विशेष पूरक। प्रस्तुत कृति मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, इन पाच महाव्रतो के साथ छठे रात्रि-भोजन को मिलाकर छ महाव्रतो तथा उनके अतिचारो का विवेचन है। क्षमाश्रमणो की वन्दना भी इसमे समाविष्ट है। प्रसगत इसमे बारह अङ्गो, सतीस कालिक सूत्रो तथा अट्ठाइस उत्कालिक सूत्रो के नामो का सूचन है। आचार्य यशोदेवसूरि ने इस पर वृत्ति की रचना की, जो 'सुखावबोधा' के नाम से प्रसिद्ध है।

खामणा-सुत्त (क्षामणा-सूत्र)

पाक्षिक क्षामणा सूत्र के नाम से भी यह रचना प्रसिद्ध है। इसमे कोई उल्लेखनीय विशेषता नही है। इसे पाक्षिक सूत्र के साथ गिनने की परम्परा भी है और पृथक् भी।

वंदित्तु सुत्त

इस सूत्र का प्रारम्भ 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' इस गाथा से होता है और यही इसके नामकरण का आधार है। ऐसी मान्यता है कि इसकी रचना गणधरो द्वारा की गई। अनेक आचार्यों ने टीकाओ की रचना की, जिसमे श्री देवसूरि, श्री पार्श्वसूरि, श्री जिनेश्वरसूरि, श्रीचन्द्रसूरि तथा श्री रत्नशेखरसूरि आदि मुख्य हैं। चूर्णि की भी रचना हुई जो इस पर रचे गये व्याख्या-साहित्य मे सर्वाधिक प्राचीन है। इसके रचयिता श्री विजयसिंह थे। रचना-काल ११८३ विक्रमाब्द है। 'वंदित्तु सुत्त' की अपर सज्ञा 'श्राद्ध प्रतिक्रमण-सूत्र' भी है। इसे आवश्यक से सम्बद्ध ही माना जाना चाहिए।

इसिभासिय (ऋषिभाषित)

ऋषि से यहा प्रत्येक-बुद्ध का आशय है। यह सूत्र प्रत्येक-बुद्धो द्वारा भाषित या निरूपित माना जाता है। तदनुसार इसकी सज्ञा 'ऋषिभाषित' हो गई। इसके पैंतालीस अध्ययन हैं, जिनमे प्रत्येक बुद्धो के चरित वर्णित हैं। इसके कतिपय अध्ययन पद्य मे हैं तथा कतिपय गद्य मे। कहा जाता है कि इस पर निर्युक्ति की भी रचना की गई, पर, वह अप्राप्य है।

५. नन्दी सूत्र

नन्दी-सूत्र रचयिता

नन्दी-सूत्र के रचयिता श्री दूष्यगणी के शिष्य श्री देववाचक माने जाते हैं। कुछ विद्वानो के मतानुसार श्री देववाचक, श्री देवर्द्धि-गणी क्षमाश्रमण का ही नामान्तर है। देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण दो व्यक्ति नही हैं, एक ही हैं पर, एतत्सम्बद्ध सामग्री से यह स्पष्टतया सिद्ध नही होता। दोनो दो भिन्न भिन्न गच्छो से सम्बद्ध थे, कुछ इस प्रकार के पुष्ट मान्य भी हैं।

स्वरूप विषय-वस्तु

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पचास गाथाएँ हैं। प्रथम तीन गाथाओं में ग्रन्थकार द्वारा अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर को प्रणमन करते हुए

मगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् चौथी गाथा से उन्नीसवी गाथा तक एक सुदर रूपक द्वारा धम-सघ की प्रशस्ति एव स्तवना की है। बीसवी और इक्कीसवी गाथा मे आद्य तीथङ्कर भगवान् ऋषभ से अन्तिम तीथङ्कर भगवान् महावीर तक, चौवीस तीथङ्करा को सामष्टिक रूप मे वदन किया गया है। बाईसवी, तेईसवी और चौवीसवी गाथा मे भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो तथा धम-सघ का वणन है। पच्चीसवी गाथा से सतालीसवी गाथा तक आय सुधर्मा से लेकर श्री दूष्यगणी तक स्थविरावली का प्रशस्तिपूवक वणन है। अडतालीसवी से पचासवी गाथा तक तप, नियम, सत्य, सयम, विनय आजव, क्षाति, मादव शील आदि उत्तमोत्तम गुणा से युक्त, प्रशस्त व्यक्तित्व के धनी युगप्रधान श्रमणो तथा श्रुत वशिष्ट्य विभूपित श्रमणा की स्तवना की है। इससे प्रकट है कि यह स्थविरावली युग प्रधान परिपाटी पर आधृत है। तदनन्तर सूत्रात्मक वणन प्रारम्भ होता है। स्थान-स्थान पर गाथाओ का प्रयोग भी हुआ है।

ज्ञान के विश्लेपण के अतगत मति, श्रुत अवधि, मन पयव तथा केवल ज्ञान की व्याख्या की गई है। उनके भेद प्रभेद उद्भव, विकास आदि का तलस्पर्शी तात्विक विवेचन किया गया है। सम्यक् श्रुत के प्रसग म द्वादशाग या गणि पिटक के आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग प्रभृति बारह भेद निरूपित किये गये हैं। प्रासगिक रूप मे वहा मिथ्या श्रुत की भी चर्चा की गई है। गणिक आगमिक, अग प्रविष्ट, अग वाह्य आदि के रूप मे श्रुत का विस्तृत विश्लेपण किया गया है। आगमिक वाङ्मय के विकास तथा विस्तार के परिशीलन की दृष्टि से नदी सूत्र का यह अश विशेपत- पठनीय है।

दशन-पक्ष

दशन का आधार प्रमाण होता है और प्रमाण का आधार ज्ञान। नदी आगम ज्ञान-चर्चा का ही आधार भूत शास्त्र है। जन नानवाद पर उसमे सर्वाङ्गीण मीमासा है। उस ज्ञान मीमासा की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि सामान्यतया सभी जनेतर दशना मे

इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि मे लिया है, जबकि जैन दर्शन ने केवल अतीन्द्रिय ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदो मे लिया है। नन्दीकार ने इन्द्रिय ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदो मे ले लिया है। 'आख देखा भी अप्रत्यक्ष' आदि आरोपो से जैन दर्शन को बचाने की दृष्टि से प्रस्तुत समाधान अपनाया गया है। आगे चल कर तो जैन दर्शन प्रत्यक्ष के दो भेदो मे सर्वमान्य हो ही गया—इन्द्रिय ज्ञान साव्यावहारिक प्रत्यक्ष और अवधि आदि अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

नन्दी सूत्र की समग्र ज्ञान चर्चा को "जैन साहित्य का वृहद इतिहास १" मे निम्नोक्त प्रकार से समाहित एव रूपान्तरित किया गया है—

ज्ञानवाद

ज्ञान पाँच प्रकार है १ आभिनिबोधिक ज्ञान, २ श्रुत ज्ञान, ३ अवधि ज्ञान, ४ मन पर्याय ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। सक्षेप मे यह ज्ञान दो प्रकार का है प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाच प्रकार का है १ श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष, २ चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष ३ घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष, ४ जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष ५ स्पर्शेन्द्रिय प्रत्यक्ष। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है १ अवधि ज्ञान प्रत्यक्ष २ मन पर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष ३ केवल ज्ञान प्रत्यक्ष।

अवधि-ज्ञान

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष भव प्रत्ययिक और क्षायोपशमिक होता है। भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान अर्थात् जन्म से प्राप्त होने वाला ज्ञान। यह देवो तथा नारको के होता है। क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्यो तथा पचेन्द्रिय तिर्यचो के होता है। अवधिज्ञान के आवरक कर्मो मे से उदीर्ण के क्षय तथा अनुदीर्ण के उपशमन होने पर उत्पन्न होने से यह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है।[2] गुण प्रतिपन्न अनगार

---

१ भाग० २ पृ०

२ खाओवसमिय तयावरणिज्जाण कम्माण उदिण्णाण खएण अणुदिण्णाण उवसमेण ओहिनाण समुप्पज्जई।

श्रमण को जो अवधिज्ञान होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान होता है। संक्षेप मे यह छ प्रकार का है १ आनुगामिक २ अनानुगामिक, ३ वर्धमानक, ४ हीयमानक ५ प्रतिपातिक, ६ अप्रतिपातिक। अनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है १ अन्तगत और २ मध्यगत। अन्तगत आनुगामिक अवधिज्ञान तीन प्रकार का है १ पुरत अन्तगत २ मागत अन्तगत और ३ पार्श्वत अन्तगत। कोई व्यक्ति उल्का—दीपिका, चटुली—पर्यन्त ज्वलित तृणपूलिका, अलात—तृणाग्रवर्ती अग्नि, मणि, प्रदीप अथवा अन्य किसी प्रकार की ज्योति को अग्रवर्ती रखकर अपने पथ पर बढता चला जाता है, वह पुरत अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। उल्का, दीपिका आदि को पृष्ठवर्ती रखकर साथ लिये जिस प्रकार कोई व्यक्ति चलता जाता है, उसी प्रकार पृष्ठवर्ती भाग को आलोकित करने वाला ज्ञान मागत अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। दीपिका आदि प्रकाश साधनो को जिस प्रकार कोई व्यक्ति पार्श्व मे स्थापित कर चलता है, उसी प्रकार पार्श्व स्थित पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ साथ-साथ चलने वाला ज्ञान पार्श्वत अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है।

जिस प्रकार कोई पुरुष उल्का आदि प्रकाशकारी पदार्थों को मस्तक पर रखकर चलता जाता है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान चारो ओर के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए ज्ञाता के साथ साथ चलता है वह मध्यगत आनुगामिक अवधिज्ञान है। अन्तगत और मध्यगत अवधि में क्या विशेषता है? पुरत अन्तगत अवधिज्ञान से संख्येय तथा असंख्येय योजन आगे के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं (जाणइ पासइ), मागत अन्तगत अवधिज्ञान से संख्येय तथा असंख्येय योजन पीछे के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं। पार्श्वत अन्तगत अवधिज्ञान से दोनो पार्श्वों मे रहे हुए संख्येय तथा असंख्येय योजन तक के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं, किन्तु मध्यगत अवधिज्ञान से सभी ओर के संख्येय तथा असंख्येय योजन के बीच मे रहे हुए पदार्थ जाने व देखे जाते हैं। यही अन्तगत अवधि और मध्यगत अवधि मे विशेषता है।

अनानुगामिक अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष एक बडे अग्नि स्थल मे अग्नि जलाकर उसी के

आसपास घूमता हुआ उसके पार्श्व के पदार्थों को देखता है, दूसरे स्थान में रहे हुए पदार्थों को अन्धकार के कारण नही देख सकता, उसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र मे उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र के सख्येय तथा असख्येय योजन तक के सम्बद्ध या असम्बद्ध पदार्थों को जानता व देखता है। उससे बाहर के पदार्थों को नही जानता।

जो प्रशस्त अध्यवसाय मे स्थित है तथा जिसका चारित्र परिणामो की विशुद्धि से वधमान है उसके ज्ञान की सीमा चारो ओर से बढती है। इसी को वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं। अप्रशस्त अध्यवसाय मे स्थित साधु जब सक्लिष्ट परिणामो से सक्लिश्यमान चारित्र वाला होता है, तब चारो ओर से उसके ज्ञान की हानि होती है। यही हीयमान अवधि का स्वरूप है। जो जघन्यतया अगुल के असख्यातवें भाग अथवा सख्यातवें भाग यावत् योजनलक्ष पृथक्त्व एव उत्कृष्टतया सम्पूर्ण लोक को जानकर फिर गिर जाता है, वह प्रतिपातिक अवधिज्ञान है। अलोक के एक भी आकाश प्रदेश को जानने व देखने के बाद आत्मा का अवधिज्ञान अप्रतिपातिक होता है।

विषय की दृष्टि से अवधिज्ञान चार प्रकार का है १ द्रव्यविषयक २ क्षेत्रविषयक ३ काल विषयक और ४ भाव विषयक। द्रव्य दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अर्थात् कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यो को जानता व देखता है और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक सभी रूपी द्रव्यो को जानता व देखता है। क्षेत्र की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अगुल के असख्यातवें भाग को जानता व देखता है और उत्कृष्ट लोकप्रमाण असख्य खण्डो को (अलोक मे) जानता व देखता है। काल की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य आवलिका के असख्यातवें भाग को जानता देखता है और उत्कृष्ट असख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप अतीत तथा अनागत काल को जानता - देखता है। भावदृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अनन्त भावो (पर्यायो) को जानता व देखता है एव उत्कृष्टतया भी अनन्त भावों को जानता देखता है समस्त भावो के अनन्तवें भाग को जानता व देखता है।

मन पर्यय-ज्ञान

मन पर्यय ज्ञान मनुष्यो को होता है या अमनुष्यो को ? मनुष्यो को होता है तो क्या सम्मूच्छिम मनुष्यो को होता है या गर्भज मनुष्यो को ? यह ज्ञान सम्मूच्छिम मनुष्यो को नही, अपितु गर्भज मनुष्यो को ही होता है अकर्मभूमि अथवा अन्तरद्वीप के गर्भज मनुष्यो को नही। कर्मभूमि के गर्भज मनुष्यो में से भी सख्येय वर्ष की आयु वालो को ही होता है, असख्येय वर्ष की आयु वालो को नही। सख्येय वर्ष की आयु वालो मे से भी पर्याप्तक (इन्द्रिय, मन आदि द्वारा पूर्ण विकसित) को ही होता है, अपर्याप्तक को नही। पर्याप्तको मे से भी सम्यग्दृष्टि को ही होता है, मिथ्यादृष्टि को अथवा मिश्रदृष्टि (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि) को नही। सम्यक्दृष्टि वालो मे से भी सयत (साधु) सम्यक्दृष्टि को ही होता है, असयत अथवा सयतासयत सम्यक्दृष्टि को नही। सयतो-साधुओ मे से भी अप्रमत्त सयत को ही होता है प्रमत्त सयत को नही। अप्रमत्त साधुओ मे से भी ऋद्धि प्राप्त को ही होता है, ऋद्धिशून्य को नही।

मन पर्यय ज्ञान के अधिकारी का नव्य न्याय की शैली म प्रतिपादन करने के बाद सूत्रकार मन पर्यय ज्ञान का स्वरूप वर्णन प्रारभ करते हैं। मन पर्यय ज्ञान दो प्रकार का होता है ऋजुमति और विपुलमति। दोनो प्रकार के मन पर्यय ज्ञान का सक्षेप मे चार दृष्टियो से विचार किया जाता है १ द्रव्य, २ क्षेत्र ३ काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा से ऋजुमति अनन्तप्रदेशी अनन्त स्कन्धो (अणुसघात) को जानता व देखता है और उसी को विपुलमति कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध तथा स्पष्ट जानता देखता है।[1] क्षेत्र की अपेक्षा से ऋजुमति कम से कम अगुल के असख्यातवें भाग और अधिक से अधिक नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी भाग के नीचे के छोटे प्रतरो तक, ऊपर ज्योतिष्क विमान के ऊपरी तलपर्यन्त तथा तिर्यक् तिरछा मनुष्य क्षेत्र के ढाई द्वीप समुद्र पर्यन्त अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीपो मे रहे हुए सज्ञी (समनस्क) पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवो के मनोगत भावो को जानता व देखता है

---

१ ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ।

और विपुलमति उसी को ढाई अगुल अधिक, विपुलतर, विशुद्धतर तथा स्पष्टतर जानता - देखता है। काल की अपेक्षा से ऋजुमति पल्यापम के असख्यातवें भाग के भूत व भविष्य को जानता - देखता है और विपुलमति उसी को कुछ अधिक विस्तार एव विशुद्धिपूर्वक जानता - देखता है। भाव की अपेक्षा से ऋजुमति अनन्त भावो (भावो के अनन्तवें भाग) को जानता - देखता है और विपुलमति उसी को कुछ अधिक विस्तार एव विशुद्धिपूर्वक जानता व देखता है। सक्षेप में मन पर्यय ज्ञान मनुष्यो के चिन्तित अर्थ को प्रकट करने वाला है मनुष्य-क्षेत्र तक सीमित है तथा चारित्र-युक्त पुरुष के क्षयोपशम गुण से उत्पन्न होने वाला है —

> मणपज्जवनाण पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडण ।
> माणुसखित्तनिबद्ध , गुणपच्चइअ चरित्तवओ ।।
>
> —सूत्र १८ गा० ६५

केवल-ज्ञान

केवलज्ञान दो प्रकार का है भवस्थकेवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। भवस्थ केवलज्ञान अर्थात् ससार में रहे हुए अर्हन्तो का केवल ज्ञान। वह दो प्रकार का है सयोगिभवस्थ केवलज्ञान और अयोगिभवस्थ केवलज्ञान। सयोगिभवस्थ केवलज्ञान पुन दो प्रकार का है प्रथम समय सयोगिभवस्थ और अप्रथम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान। इसी प्रकार अयोगिभवस्थ केवलज्ञान भी दो प्रकार का है। सिद्ध केवलज्ञान के दो भेद हैं अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान और परम्पर-सिद्ध केवलज्ञान। अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान पन्द्रह प्रकार का है — १ तीर्थसिद्ध २ अतीर्थसिद्ध, ३ तीर्थङ्करसिद्ध, ४ अतीर्थङ्कर-सिद्ध, ५ स्वयबुद्धसिद्ध, ६ प्रत्येकबुद्धसिद्ध ७ बुद्धबोधितसिद्ध, ८ स्त्रीलिंगसिद्ध ९ पुरुषलिंगसिद्ध, १० नपुसकलिंगसिद्ध, ११ स्वलिंगसिद्ध, १२ अन्यलिंगसिद्ध, १३ गृहलिंगसिद्ध, १४ एकसिद्ध, १५ अनेकसिद्ध। परम्पर-सिद्ध-केवलज्ञान अनेक प्रकार का है, जैसे अप्रथम समयसिद्ध, द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुसमयसिद्ध, यावत् दशसमयसिद्ध, सख्येय-समयसिद्ध असख्येय-समयसिद्ध, अनन्त-समयसिद्ध आदि। सामान्यत केवलज्ञान का चार दृष्टियों

मे विचार किया गया है १ द्रव्य, २ क्षेत्र, ३ काल और ४ भाव। द्रव्य की अपेक्षा से केवलज्ञानी सम्पूर्ण द्रव्यो को जानता व देखता है। क्षेत्र की अपेक्षा से केवलज्ञानी लोकालोकरूप समस्त क्षेत्र को जानता व देखता है। काल की अपेक्षा से केवलज्ञानी सम्पूर्ण काल–तीनो कालो को जानता व देखता है। भाव की अपेक्षा से केवलज्ञानी द्रव्यो के समस्त पर्यायो को जानता व देखता है। सक्षेप मे केवलज्ञान समस्त पदार्थों के परिणामो एव भावो को जानने वाला है, अनन्त है, शाश्वत है अप्रतिपाती है एव एक ही प्रकार का है

> अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणत।
> सासयमप्पडिवाई एगविह केवल णाण ॥
>
> —सू० २२ गा० ६६

आभिनिबोधिक-ज्ञान

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तिम प्रकार केवलज्ञान का वर्णन करने के बाद सूत्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की चर्चा समाप्त कर परोक्ष ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ कर देते हैं। परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है आभिनिबोधिक और श्रुत। जहा आभिनिबोधिक ज्ञान है, वहा श्रुतज्ञान है और जहा श्रुतज्ञान है, वहा आभिबोधिक ज्ञान है। ये दोनो परस्पर अनुगत हैं। इन दोनो मे विशेषता यह है कि अभिमुख आये हुए पदार्थों का जो नियत बोध कराता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। इसी को मतिज्ञान भी कहते हैं। श्रुत का अर्थ है सुनना। श्रुतज्ञान अर्थात् शब्दजन्य ज्ञान मतिपूर्वक होता है, किन्तु मतिज्ञान श्रुतपूर्वक नही होता।

अविशेषित मति मति ज्ञान और मति-अज्ञान उभय रूप है। विशेषित मति अर्थात् सम्यग्दृष्टि की मति मति ज्ञान है तथा मिथ्या-दृष्टि की मति मतिअज्ञान है। इसी प्रकार अविशेषित श्रुत श्रुत ज्ञान और श्रुत अज्ञान उभयरूप है जब कि विशेषित अर्थात् सम्यग्दृष्टि का श्रुत श्रुत ज्ञान है एव मिथ्या दृष्टि का श्रुत श्रुत-अज्ञान है।

आभिनिबोधिक ज्ञान-मतिज्ञान दो प्रकार का है श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। अश्रुतनिश्रित मति-बुद्धि चार प्रकार की होती

है १ औत्पात्तिकी, २ वैनयिकी, ३ कर्मजा, ४, पारिणामिकी —

उप्पत्तिया वेणइग्रा, कम्मया परिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पचमा नोवलब्भई ॥

—सू० २६, गा० ६८

औत्पात्तिकी बुद्धि

पहले बिना देखे, बिना सुने और बिना जाने पदार्थों को तत्काल विशुद्ध रूप से ग्रहण करने वाली अबाधित फलयुक्त बुद्धि को औत्पात्तिकी बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि किसी प्रकार के पूर्व अभ्यास एव अनुभव के बिना ही उत्पन्न होती है।

वैनयिकी बुद्धि

कठिन काम भार के निर्वाह मे समर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्ग का वर्णन करने वाले सूत्र और अर्थ का सार ग्रहण करने वाली तथा इहलोक और परलोक दोनो मे फल देने वाली बुद्धि विनयसमुत्थ अर्थात् विनय से उत्पन्न होने वाली वैनयिकी बुद्धि है

भरनित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला।
उभग्रोलोगफलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धि ॥

—गा० ७३

कर्मजा बुद्धि

एकाग्र चित्त से (उपयोगपूर्वक) कार्य के परिणाम को देखने वाली, अनेक कार्यों के अभ्यास एव चिन्तन से विशाल तथा विद्वज्जनों से प्रशसित बुद्धि का नाम कर्मजा बुद्धि है

उवग्रोगदिट्ठसारा, कम्मपसगपरिघोलणविसाला।
साहुक्कार फलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धि ॥

—गा० ७६

पारिणामिकी बुद्धि।

अनुमान हेतु और दृष्टान्त से विषय को सिद्ध करने वाली, आयु के परिपाक से पुष्ट तथा ऐहलौकिक उन्नति एव मोक्षरूप नि श्रेयस् प्रदान करने वाली बुद्धि का नाम पारिणामिकी बुद्धि है

अणुमाणहेउदिट्ठनसाहिया वयविवागपरिणामा ।
हियनिस्सेयसफलवई बुद्धी परिणामिया नाम ॥
—गा० ७८

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के भी चार भेद हैं १ अवग्रह २ ईहा, ३ अवाय ४ धारणा। अवग्रह दो प्रकार का है अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह। व्यजनावग्रह चार प्रकार का है १ श्रोत्रेन्द्रिय-व्यजनावग्रह, २ घ्राणेन्द्रिय-व्यजनावग्रह ३ जिह्वेन्द्रिय-व्यजनावग्रह ४ स्पर्शेन्द्रिय व्यजनावग्रह। अर्थावग्रह छ प्रकार का है १ श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह २ चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह ३ घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ४ जिह्वेन्द्रिय अर्थावग्रह ५ स्पर्शेन्द्रिय अर्थावग्रह, ६ नोइन्द्रिय (मन)-अर्थावग्रह। अवग्रह के ये पाच नाम एकार्थक हैं — अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता अवलम्बनता और मेधा।

ईहा भी अर्थावग्रह की ही भांति छ प्रकार की होती है। ईहा क एकार्थक शब्द हैं —आभोगनता, मार्गणता गवेषणता, चिन्ता और विमर्श।

अवाय भी श्रोत्रेन्द्रिय आदि से छ प्रकार का है। इसके एकार्थक नाम हैं —आवर्त्तनता, प्रत्यावर्त्तनता अपाय, बुद्धि और विज्ञान।

धारणा भी पूर्वोक्त रीति से छ प्रकार की है। इसके एकार्थक पद ये हैं —धरण धारणा, स्थापना प्रतिष्ठा और कोष्ठ।

मतिज्ञान की अवग्रह आदि अवस्थाओ का कालमान बताते हुए आचार्य कहते है कि अवग्रह एक समय तक रहता है ईहा की अवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है, अवाय भी अन्तर्मुहूर्त तक रहता है धारणा सख्येय अथवा असख्येय काल तक रहती है।

अवग्रह के एक भेद व्यजनावग्रह का स्वरूप समझाने के लिए सूत्रकार ने दृष्टान्त भी दिया है जैसे कोई पुरुष किसी सोये हुए व्यक्ति को ओ अमुक ! ओ अमुक ! ऐसा कहकर जगाता है। उसे कानो मे प्रविष्ट एक समय के शब्द पुद्गल सुनाई नही देते,

ता दो समय के शब्द-पुद्गल सुनाई नही देते यावत् दस समय तक के शब्द-पुद्गल सुनाई नही देते। इसी प्रकार सख्येय समय के प्रविष्ट पुद्गलो को भी वह ग्रहण नही करता। असख्येय समय के प्रविष्ट पुद्गल ही उसके ग्रहण करने मे आते हैं। यही व्यजनावग्रह है। इसे मल्लक—शराव—सिकोरा के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया गया है। अर्थावग्रह आदि का स्वरूप इस प्रकार है जैसे कोई पुरुष जागृत अवस्था मे अव्यक्त शब्द को सुनता है और उसे 'कुछ शब्द है' ऐसा समझ कर ग्रहण करता है किन्तु यह नही जानता कि वह शब्द किसका है ? तदनन्तर वह ईहा मे प्रवेश करता है और तब जानता है कि यह शब्द अमुक का होना चाहिए। इसके बाद वह अवाय मे प्रवेश करता है और निश्चय करता है कि यह शब्द अमुक का ही है। तदनन्तर वह धारणा मे प्रवेश करता है एव उस शब्द के ज्ञान को सख्येय अथवा असख्येय काल तक हृदय मे धारण किये रहता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो के विषय मे भी समझना चाहिए। नोइन्द्रिय अर्थात् मन से अर्थावग्रह आदि इस प्रकार होते हैं जसे कोई पुरुष अव्यक्त स्वप्न देखता है और प्रारम्भ मे 'कुछ स्वप्न है' ऐसा समझता है। यह मनोजन्य अर्थावग्रह है। तदनन्तर क्रमश मनोजन्य ईहा, अवाय और धारणा की उत्पत्ति होती है।

सक्षेप म मतिज्ञान-आभिनिवोधिक ज्ञान का चार दृष्टियो से विचार हो सकता है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा स मतिज्ञानी सामान्यतया सब पदार्थो को जानता है, किन्तु, देखता नहीं। क्षेत्र की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य प्रकार से सम्पूर्ण क्षेत्र को जानता है, किन्तु, देखता नही। काल की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया सम्पूर्ण काल को जानता है, किन्तु, देखता नही। भाव को अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया समस्त भावो—पर्यायो को जानता है, किन्तु, देखता नही। मतिज्ञान का उपसहार करते हुए कहा गया है शब्द स्पृष्ट (छूने पर) ही सुना जाता है, रूप अस्पृष्ट ही देखा जाता है, रस, गन्ध और स्पर्श स्पृष्ट एव बद्ध (आत्म प्रदेशो ने गृहीत होने पर) ही जाना जाता है। ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा गवेषणा, सज्ञा स्मृति, मति और प्रज्ञा ये सब आभिनिवोधिक-मतिज्ञा

के पर्याय हैं —

> पुट्ठ सुणेइ सद्, रूव पुण पासइ ग्रपुट्ठ तु ।
> गध रस च फास, च वद्धपुट्ठ वियागरे ॥
> ईहा ग्रपोह वीमसा मग्गणा य गवेसणा ।
> सना सई मई पना, सव्व ग्राभिणिबोहिय ।
>
> —।

श्रुत-ज्ञान

श्रुतज्ञान रूप परोक्ष ज्ञान चोदह प्रकार का है
२ ग्रनक्षरश्रुत, ३ सज्ञिश्रुत, ४ ग्रसज्ञिश्रुत,
६ मिथ्याश्रुत, ७ सादिश्रुत, ८ ग्रनादिश्रुत,
१० ग्रपयवसितश्रुत, ११ गमिकश्रुत, १२
प्रविष्ट, १४ ग्रनगप्रविष्ट । इनमे से ग्रक्षर
सज्ञाक्षर, व्यजनाक्षर ग्रोर लब्ध्यक्षर । ग्रक्षर
नाम सज्ञाक्षर है। ग्रक्षर के व्यजनाभिलाप
ग्रक्षरलब्धिवाले जीव को लब्ध्यक्षर (भावश्रु
श्रोत्रेन्द्रिय ग्रादि भेद से छ प्रकार का है।
का कहा गया है, जैसे ऊर्ध्व श्वास लेना,
खासना, छावना, निसघना, ग्रनुस्वारयुक्त

> ऊससिय नीससिय, निच्छूढ खासिय
> निस्सिघियमणुसार ग्रणक्खर लिय।

सज्ञिश्रुत तीन प्रकार की सज्ञावाला है
हेतूपदेशिकी ग्रोर दृष्टिवादोपदेशिकी । जिसमे
गवेषणा चिता, विमर्श ग्रादि शक्तिया
सज्ञावाला है । जो प्राणी (वतमान की
विचार कर किसी क्रिया मे प्रवृत्त होना है,
वाला है । सम्यग् श्रुत के कारण हिताहितका
दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा वाला है । ग्रसज्ञिश्रुत
लक्षणवाला है।

सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी अर्हन्त तीर्थङ्कर प्रणीत द्वादशांगी गणि-पिटक सम्यक्श्रुत है। द्वादशांगी चतुर्दश पूर्वधर के लिए सम्यक्श्रुत है, अभिन्नदशपूर्वी अर्थात् सम्पूर्ण दश पूर्वों के ज्ञाता के लिए भी सम्यक् श्रुत है, किन्तु दूसरों के लिए विकल्प से सम्यक्श्रुत अर्थात् उनके लिए यह सम्यक्श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वच्छन्द बुद्धि की कल्पना से कल्पित ग्रन्थ मिथ्या श्रुतान्तर्गत हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ इस प्रकार हैं भारत (महाभारत), रामायण, भीमासुरोक्त, कौटिल्यक शकट-भद्रिका, खोडमुख (घोटकमुख), कार्पासिक, नागसूक्ष्म कनकसप्तति, वैशेषिक, बुद्धवचन, त्रैराशिक कापिलिक, लौकायतिक, षष्टितन्त्र, माठर, पुराण, व्याकरण, भागवत, पातंजलि, पुष्यदैवत, लेख, गणित, शकुनरुत, नाटक अथवा ७२ कलाएँ और सांगोपांग चार वेद। ये सब ग्रन्थ मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यात्वरूप से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुतरूप हैं तथा सम्यक् दृष्टि के लिए सम्यक्त्वरूप से परिगृहीत होने के कारण सम्यक् श्रुत रूप हैं। अथवा मिथ्यादृष्टि के लिए भी ये सम्यक् श्रुतरूप हैं क्योंकि उसके सम्यक्त्व की उत्पत्ति में ये हेतु हैं।

द्वादशांगी गणिपिटक व्युच्छित्तिनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित-सान्त है तथा अव्युच्छित्तिनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अनादि एवं अपर्यवसित-अनन्त है।

जिस सूत्र के आदि, मध्य और अन्त में कुछ विशेषता के साथ बार-बार एक ही पाठ का उच्चारण हो, उसे गमिक कहते हैं। दृष्टिवाद गमिकश्रुत है। गमिक से विपरीत कालिकश्रुत (आचारांग आदि) अगमिक हैं।

श्रुतज्ञान व उसके साथ ही प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि निम्नोक्त आठ गुणों से युक्त मुनि को ही श्रुतज्ञान का लाभ होता है १ सुश्रुषा (श्रवणेच्छा), २ प्रतिपृच्छा, ३ श्रवण, ४ ग्रहण, ५ ईहा, ६ अपोह, ७ धारणा ८ आचरण

के पर्याय हैं —

> पुट्ठ सुणेइ सद्द, रूव पुण पासइ अपुट्ठ तु ।
> गंध रस च फास, च बद्धपुट्ठ वियागरे ॥
> ईहा अपोह वीमसा मग्गणा य गवेसणा ।
> सन्ना सई मई पन्ना, सव्व आभिणिबोहिय ।
>
> —गा० ८५, ८७

श्रुत ज्ञान

श्रुतज्ञान रूप परोक्ष ज्ञान चौदह प्रकार का है —१ अक्षरश्रुत, २ अनक्षरश्रुत, ३ सज्ञिश्रुत, ४ असज्ञिश्रुत, ५ सम्यक्श्रुत, ६ मिथ्याश्रुत, ७ सादिश्रुत, ८ अनादिश्रुत, ९, सपर्यवसितश्रुत, १० अपर्यवसितश्रुत, ११ गमिकश्रुत, १२ अगमिकश्रुत १३ अगप्रविष्ट, १४ अनगप्रविष्ट । इनमे से अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं — सज्ञाक्षर, व्यजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। अक्षर की सस्थानाकृति का नाम सज्ञाक्षर है। अक्षर के व्यजनाभिलाप को व्यजनाक्षर कहते हैं। अक्षरलब्धिवाले जीव को लब्ध्यक्षर (भावश्रुत) उत्पन्न होता है। वह श्रोत्रेन्द्रिय आदि भेद से छ प्रकार का है। अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे ऊँचा श्वास लेना, नीचा श्वास लेना, थूकना, खासना, छीकना, निसघना, अनुस्वारयुक्त चेष्टा करना आदि

> ऊससिय नीससिय, निच्छूढ खासिय च छीय च ।
> निस्सिघियमणुसार अणक्खर छेलियाईय ॥
>
> —गा० ८८

सज्ञिश्रुत तीन प्रकार की सज्ञावाला है —(दीर्घ) कालिकी, हेतूपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी । जिसमे ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा चिंता, विमर्श आदि शक्तियाँ विद्यमान हैं, वह कालिकी सज्ञावाला है। जो प्राणी (वर्तमान की दृष्टि से) हिताहित का विचार कर किसी क्रिया मे प्रवृत्त होता है, वह हेतूपदेशिकी सज्ञा वाला है। सम्यक् श्रुत के कारण हिताहित का बोध प्राप्त करने वाला दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा वाला है। असज्ञिश्रुत सज्ञिश्रुत से विपरीत लक्षणवाला है।

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी श्रर्हत तीर्थङ्कर प्रणीत द्वादशांगी गणि-पिटक सम्यक् श्रुत है। द्वादशांगी चतुर्दश पूर्वधर के लिए सम्यक्श्रुत है, श्रभिन्नदशपूर्वी अर्थात् सम्पूर्ण दश पूर्वों के ज्ञाता के लिए भी सम्यक् श्रुत है, किन्तु दूसरों के लिए विकल्प से सम्यक्श्रुत अर्थात् उनके लिए यह सम्यक्श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी।

श्रज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वच्छन्द बुद्धि की कल्पना से कल्पित ग्रन्थ मिथ्या श्रुतान्तर्गत हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ इस प्रकार हैं भारत (महाभारत), रामायण, भीमासुरोक्त, कौटिल्यक शकट-भद्रिका, खोडमुख (घोटकमुख), कार्पासिक, नागसूक्ष्म कनकसप्तति वैशेषिक, बुद्धवचन, त्रैराशिक, कापिलिक, लौकायतिक, षष्टितन्त्र, माठर, पुराण, व्याकरण, भागवत, पातंजलि, पुष्यदैवत, लेख, गणित, शकुनरुत, नाटक श्रथवा ७२ कलाएँ और सांगोपांग चार वेद। ये सब ग्रन्थ मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यात्वरूप से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुतरूप है तथा सम्यक् दृष्टि के लिए सम्यक्त्वरूप से परिगृहीत होने के कारण सम्यक् श्रुत रूप हैं। श्रथवा मिथ्यादृष्टि के लिए भी ये सम्यक् श्रुतरूप हैं, क्योंकि उसके सम्यक्त्व की उत्पत्ति में ये हेतु हैं।

द्वादशांगी गणिपिटक व्युच्छित्तिनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित-सान्त है तथा अव्युच्छित्तिनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अनादि एवं अपर्यवसित-अनन्त है।

जिस सूत्र के आदि, मध्य और अन्त में कुछ विशेषता के साथ बार बार एक ही पाठ का उच्चारण हो, उसे गमिक कहते हैं। दृष्टिवाद गमिकश्रुत है। गमिक से विपरीत कालिकश्रुत (आचारांग आदि) अगमिक हैं।

श्रुतज्ञान व उसके साथ ही प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि निम्नोक्त आठ गुणों से युक्त मुनि को ही श्रुतज्ञान का लाभ होता है १ सुश्रूषा (श्रवणेच्छा), २ प्रतिपृच्छा, ३ श्रवण, ४ ग्रहण, ५ ईहा ६ अपोह, ७ धारणा ८ आचरण

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुरोइ गिण्हइ य ईहए यावि ।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्म ॥

—गा० ६५

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान की विधि बताते हुए आचाय कहते हैं कि सबप्रथम सूत्र का अथ बताना चाहिए, तदनन्तर उसकी निर्युक्ति करनी चाहिए और अन्त मे निरवशेष सम्पूण बातें स्पष्ट कर देनी चाहिए —

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥

—गा० ६७

श्री जिनदास महत्तर ने नन्दी-सूत्र पर चर्णि की रचना की । आचार्य हरिभद्र तथा आचाय मलयगिरि ने इस पर टीकाओं का निर्माण किया ।

६ अनुयोगद्वार

नन्दी की तरह यह सूत्र भी अर्वाचीन है, जो इसकी भाषा तथा वर्णन-क्रम से गम्य है । इसके रचयिता आर्य रक्षित माने जाते हैं । प्रस्तुत सूत्र मे विभिन्न अनुयोगो से सम्बद्ध विषयो का आकलन है । विशेषत सख्या-क्रम विस्तार का जो गणितानुयोग का विषय है इसमे विशद विवेचन है । यह ग्रन्थ प्राय प्रश्नोत्तर की शैली मे रचित है ।

सप्त स्वर

प्रसगोपात्त इसमे षड्ज ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पचम धैवत तथा निषाद सज्ञक सात स्वरो का विवेचन है । स्वरो के उत्पत्ति स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है कि षड्ज स्वर जिह्वा के अग्र भाग से उच्चरित होता है । ऋषभ स्वर का उच्चारण स्थान हृदय है । गान्धार स्वर कण्ठाग्र से निसृत होता है । मध्यम स्वर का स्थान जिह्वा के मध्य भाग से होता है । पचम स्वर नासिका

से बोला जाता है। धवत स्वर दातो के योग से उच्चरित होता है। निपाद स्वर नेत्र-भृकुटि के आक्षेप से बोला जाता है।

सातो स्वरा के जीव-नि सृत और अजीव नि सृत भेद—विश्लेपण के अन्तगत बताया गया है कि मयूर पड्ज स्वर, कुक्कुट ऋपभ स्वर हस गाधार स्वर गाय भेड आदि पशु मध्यम स्वर, वसत ऋतु में कोयल पचम स्वर, सारस तथा क्रौंच पक्षी धैवत स्वर और हाथी निपाद स्वर मे बोलता है। मानव कृत स्वर-प्रयोग के फलाफल पर भी विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रसग में ग्राम, मूर्च्छना आदि का भी उल्लेख है।

आठ विभक्तियो की भी चर्चा है। कहा गया है, निर्देश मे प्रथमा, उपदेश मे द्वितीया, करण मे तृतीया, सम्प्रदाय मे चतुर्थी, अपादान में पचमी, सम्बन्ध मे पष्ठी, आधार मे सप्तमी तथा आमन्त्रण मे अष्टमी विभक्ति है। प्रकृति, आगम, लोप, समास, तद्धित, धातु आदि अन्य व्याकरण-सम्बन्धी विपयो की भी चर्चा की गई है। प्रसगत काव्य के नौ रसा का भी उल्लेख हुआ है।

पल्योपम, सागरोपम आदि के भेद प्रभेद तथा विस्तार, सख्यात, असख्यात, अनन्त आदि का विश्लेपण, भेद-प्रकार, आदि का विस्तार से वर्णन है। जैन पारिभापिक परिमाण क्रम तथा सख्या क्रम की दृष्टि से इसका वस्तुत महत्त्व है।

महत्वपूर्ण सूचनाए

कुप्रावचनिक, मिथ्या शास्त्र, पाखण्डी श्रमण, कापालिक, तापस, परिव्राजक पाण्डुरग आदि धर्मोपजीवियों, तृण, काष्ठ तथा पत्ते ढोने वालो, वस्त्र, सूत, भाण्ड आदि का विक्रय कर जीविकोपार्जन करने वालो जुलाहो बढइयो, चितेरो, दात के कारीगरो, छत्र बनाने वालो आदि का यथाप्रसग विवेचन हुआ है।

प्रमाण-वर्णन के प्रसग मे प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान तथा आगम की विशाल चर्चा की गयी है। प्रत्यक्ष के दो भेद बतलाये गये हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के पाच भेद कहे गये

हैं —श्रोत्रेंद्रिय- प्रत्यक्ष, चक्षु -इन्द्रिय प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा स्पर्शनेन्द्रिय- प्रत्यक्ष ।

नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष का वणन करते हुए उसे अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, मन पयय ज्ञान प्रत्यक्ष तथा केवल-ज्ञान प्रत्यक्ष, इस प्रकार इसे तीन प्रकार का बतलाया गया है।

अनुमान—

अनुमान का वणन करते हुए उनके पूववत्, शेषवत् तथा दृष्टि-साधम्य नामक तीन भेदो की चर्चा की गई है। पूववत् अनुमान का स्वरूप समझाने के लिए सूत्रकार ने एक उदाहरण दिया है जस कोई माता का पुत्र बाल्यावस्था मे अयत्र चला गया और युवा हो कर अपने नगर वापिस आया। उसे देख कर उसकी माता पूवदृष्ट अर्थात् पहले देखे हुए लक्षणो से अनुमान करती है कि यह पुत्र मेरा ही है।[1] इसी को पूववत् अनुमान कहते हैं।

शेषवत् अनुमान पाच प्रकार का है कायत, कारणत गुणत, अवयवत और आश्रयत। काय से कारण का ज्ञान होना कायत अनुमान है। शख, भेरी आदि के शब्दो से उनके कारणभूत पदार्थों का ज्ञान होना इसी प्रकार का अनुमान है। कारणो से काय का ज्ञान कारणत अनुमान कहलाता है। तन्तुओ से पट बनता है, मिट्टी के पिण्ड से घट बनता है आदि उदाहरण इसी प्रकार के अनुमान के हैं। गुण के ज्ञान से गुणी का ज्ञान करना गुणत अनुमान है। कसौटी से स्वण की परीक्षा गध से पुष्प की परीक्षा आदि इसी प्रकार के अनुमान के उदाहरण है। अवयवो से अवयवी का ज्ञान होना अवयव अनुमान है। शृ गो से महिष का शिखा से कुक्कुट का, दातो से हाथी का, दाढो से वाराह-सूअर का ज्ञान इसी कोटि का अनुमानजय ज्ञान है। साधन से साध्य का अर्थात् आश्रय से आश्रयी का ज्ञान आश्रयत अनुमान है। धूम्र से अग्नि का, बादलो से जल का, अभ्र-विकार से वृष्टि का सदाचरण से कुलीन पुत्र का ज्ञान इसी प्रकार का अनुमान है।

---

१ माया पुत्त जहा नटठ जुवाण पुणरागय ।
काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिगेण केणई ॥

—गा० १५

दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के दो भेद हैं सामान्य दृष्ट और विशेष दृष्ट। किसी एक पुरुष को देखकर तद्देशीय अथवा तज्जातीय अन्य पुरुषों की आकृति आदि का अनुमान करना सामान्यदृष्ट अनुमान का उदाहरण है। इसी प्रकार अनेक पुरुषों की आकृति आदि से एक पुरुष की आकृति आदि का अनुमान किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर एक बार देखकर पुन उसके अन्यत्र दिखाई देने पर उसे अच्छी तरह पहचान लेना विशेष दृष्ट अनुमान का उदाहरण है।

उपमान

उपमान के दो भेद हैं साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत। साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है किंचित् साधर्म्योपनीत, प्राय-साधर्म्योपनीत और सर्व साधर्म्योपनीत।

किंचित् साधर्म्योपनीत उसे कहते हैं, जिसमें कुछ साधर्म्य हो। उदाहरण के लिए जैसा मेरु पर्वत है, वैसा ही सर्षप का बीज है, क्योंकि दोनों ही मूर्त हैं। इसी प्रकार जैसा आदित्य है, वैसा ही खद्योत है, क्योंकि दोनों ही प्रकाशयुक्त हैं। जैसा चन्द्र है वैसा ही कुमुद है, क्योंकि दोनों ही शीतलता प्रदान करते हैं।

प्राय साधर्म्योपनीत उसे कहते हैं, जिसमें करीब-करीब समानता हो। उदाहरणार्थ जैसी गाय है, वैसी ही नीलगाय है।

सर्व साधर्म्योपनीत उसे कहते हैं जिसमें सब प्रकार की समानता हो। इस प्रकार की उपमा देश-काल आदि की भिन्नता के कारण नहीं मिल सकती, अत उसको उसी से उपमा देना सर्व-साधर्म्योपनीत उपमान है। इसमें उपमेय एवं उपमान अभिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए अर्हत् ही अर्हत् के तुल्य कार्य करता है। चक्रवर्ती ही चक्रवर्ती के समान कार्य करता है आदि।

वैधर्म्योपनीत भी इसी तरह तीन प्रकार का है किंचित्-वैधर्म्योपनीत, प्राय वैधर्म्योपनीत और सर्व वैधर्म्योपनीत।

आगम

आगम दो प्रकार के है लौकिक और लोकोत्तरिक। मिथ्या-दृष्टियों के बनाये हुए ग्रंथ लौकिक आगम हैं, जैसे, रामायण, महा-भारत आदि। लोकोत्तरिक आगम वे हैं, जिन्हें पूर्ण ज्ञान एवं दर्शन को धारण करने वाले, भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल के पदार्थों के ज्ञाता, तीनों लोकों के प्राणियों से पूजित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हत् प्रभु ने बताया है, जैसे, *द्वादशांग गणिपिटक*। अथवा आगम तीन प्रकार के हैं सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम, अथवा आत्मागम, अनन्त-रागम और परम्परागम। तीर्थङ्कर प्ररूपित अर्थ उनके लिए आत्मागम है। गणधर प्रणीत सूत्र गणधर के लिए आत्मागम एवं अर्थ अनन्तरागम है। गणधरों के शिष्यों के लिए सूत्रों को अनन्तरागम एवं अर्थ को परम्परागम कहते हैं। इसके बाद सूत्र और अर्थ दोनों ही परम्परागम हो जाते हैं।

प्रमाण की तरह नयवाद की भी विस्तार से चर्चा हुई है। इन वर्णन क्रमों से इसके अर्वाचीन होने का कथन परिपुष्ट होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर श्री जिनदास महत्तर की चूर्णि है। आचार्य हरिभद्र तथा मलधारी हेमचन्द्र द्वारा टीकाओं की भी रचना की गई।

दस पइण्णग (दश प्रकीर्णक)

प्रकीर्णक का अभिप्राय इधर उधर बिखरी हुई छितरी हुई सामग्री या विविध विषयों के समाकलन अथवा संग्रह से है। जैन पारिभाषिक दृष्टि से प्रकीर्णक उन ग्रन्थों को कहा जाता है, जो तीर्थङ्करों के शिष्य उद्बुद्धचेता श्रमणों द्वारा अध्यात्म-सम्बद्ध विविध विषयों पर रचे जाते रहे है।

प्रकीर्णकों की परम्परा

नन्दी सूत्र मे किये गये उल्लेख के अनुसार प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ के शिष्यों द्वारा चौरासी सहस्र प्रकीर्णकों की रचना की गई। दूसरे से तेईसवें तक के तीर्थङ्करों के शिष्यों द्वारा संख्येय सहस्र प्रकीर्णक रचे गये। चौवीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के शिष्यों द्वारा चौदह सहस्र प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना की गयी।

नन्दी सूत्र मे इस प्रसग मे ऐसा भी उल्लेख है कि जिन जिन तीथङ्करो के औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी, चार प्रकार की बुद्धि से उत्पन्न जितने भी शिष्य होते हैं, उनके उतने ही सहस्र प्रकीणक होते हैं। जितने प्रत्येक-बुद्ध होते हैं, उनके भी उतने ही प्रकीणक ग्रथ होते हैं।[1]

नन्दी सूत्र के टीकाकार आचाय मलयगिरि ने इस सम्बन्ध मे इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि अहत्-प्ररूपित श्रुत का अनुसरण करते हुए उनके शिष्य भी ग्रथ रचना करते हैं, उसे प्रकीणक कहा जाता है। अथवा अहत्-उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करते हुए उनके शिष्य धम-देशना आदि के सदभ मे अपने वचन कौशल से ग्रथ पद्धत्यात्मक रूप मे जो भाषण करते हैं, वह प्रकीणक सज्ञक है।[2]

प्रकीणक ग्रथो की रचना तीथङ्करो के शिष्यो द्वारा होने की जब मायता है, तो यह स्थिति प्रत्येक बुद्धो के साथ कैसे घटित होगी, क्योकि वे किसी के द्वारा दीक्षित नही होते। वे किसी के शिष्य भी नही होते। इसका समाधान इस प्रकार है कि प्रव्राजक या प्रव्रज्या देने वाले आचार्य की दृष्टि मे प्रत्येक बुद्ध किसी के शिष्य नही होते, पर, तीथङ्करो द्वारा उपदिष्ट धम-शासन की प्रतिपन्नता या तदनुशासन सम्पृक्तता की अपेक्षा मे अथवा उनके शासन के अन्तवर्ती होने से वे

---

१ एवमाइयाइ चउरासीइं पइण्णग-सहस्साइ भगवओ अरहओ उसह-सामियस्स आइतित्थयरस्स। तहा सखिज्जाइ पइण्णगसहस्साइ मज्झिमगाण जिणवराण। चोद्दसपइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स। अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए परिणामियाए चउव्विहाए बुद्धिए उववया तस्स तत्तियाइ पइण्णगसहस्साहि। पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव।

—नन्दी सूत्र, ५१

२ इह यद्भगवदर्हदुपदिष्ट श्रुतमनुसृत्य भगवत श्रमणा विरचयन्ति तत्सर्वं प्रकीर्णकमुच्यते। अथवा श्रुतमनुसरन्तो यदात्मनो वचनकौशलेन धर्मदेशनादिषु ग्रन्थपद्धतिरूपतया भाषन्ते तदपि सर्वप्रकीर्णम्।

—अभिधान राजेन्द्र पचम भाग, पृ० ३

औपचारिकतया तीर्थङ्कर के शिष्य कहे भी जा सकते हैं, अत प्रत्येक-बुद्धो द्वारा प्रकीर्णक रचना की सगतता व्याहृत नहीं होती ।[1]

प्राप्त प्रकीर्णक

वर्तमान मे जो मुख्य मुख्य प्रकीर्णक सज्ञक कृतिया प्राप्त हैं, वे सख्या मे दश हैं १ चउसरण(चतु शरण), २ आउर-पच्चक्खाण (आतुर-प्रत्याख्यान), ३ महापच्चक्खाण (महा प्रत्याख्यान), ४ भत्त परिण्णा (भक्त परिज्ञा), ५ तदुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक), ६ सथारग (सस्तारक), ७ गच्छायार (गच्छाचार), ८ गणि-विज्जा (गणि विद्या), ९ देविंद थय (देवेन्द्र-स्तव), १० मरण-समाही (मरण-समाधि) ।

१ चउसरण (चतु शरण)

जन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, साधु और जिन प्ररूपित धर्म, ये चार शरण आश्रयभूत माने गये हैं । दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि जैन सस्कृति के ये आधार-स्तम्भ हैं । इन्ही चार के आधार पर इस प्रकीर्णक का नाम 'चतु शरण' रखा गया है ।

दुष्कृत त्याज्य हैं, सुकृत ग्राह्य, यह धर्म का सन्देश है । इस प्रकरण मे दुष्कृतो को निन्दित बताया गया है और सुकृतो को प्रशस्त, जिसका आशय है कि मनुष्य को असत् कार्य न कर सत्कार्य करने मे तत्पर रहना चाहिए । इसको कुशलानुबन्धी अध्ययन भी कहा जाता है जिसका अभिप्राय है कि यह कुशल-सुकृत या पुण्य की अनुबद्धता का साधन है । इसे तीनो सन्ध्याओ मे ध्यान किये जाने योग्य बताया गया है । इससे यह स्पष्ट है कि यह प्रकीर्णक विशेष उपादेय माना जाता रहा है । चतु शरण की अतिम गाथा मे श्री वीरभद्र का

---

१ प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यते, तदेतदसमीचीनम् यत प्रव्राजकाचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते, न तु तीर्थंकरोपदिष्टशासनप्रतिपन्नत्वेनापि, ततो न कश्चिद्दोषः ।

—अभिधान राजेन्द्र, पंचम भाग पृ० ४

नामोल्लेख है, जिससे अनुमान किया जाता है कि वे इसके रचयिता रहे हो। श्री भुवनतु ग द्वारा वृत्ति की रचना की गयी और श्री गुण-रत्न द्वारा अवचूरि की।

२ आउर-पच्चक्खाण (आतुर-प्रत्याख्यान)

नाम आशय विषय

आतुर शब्द सामान्यत रोग-ग्रस्त-वाची है। आतुरावस्था मे मनुष्य की दो प्रकार की मानसिक अवस्थाए सम्भावित हैं। जिन्हें देह, दैहिक भोग और लौकिक एपणाओ मे आसक्ति होती है, वे सासारिक मोहाच्छन्न मन स्थिति मे रहते हैं। मुक्त भोगो की स्मृति और अप्राप्त भोगो की लालसा मे उनका मन आकुल बना रहता है। अपने अन्तिम काल मे भी वे इसीलिये प्रत्याख्यानो मुख नही हो पाते। ससार मे अधिकाश लोग इसी प्रकार के हैं। अ तत मरना तो होता ही है मर जाते हैं। वैसा मरण बाल मरण कहा जाता है। यहा बाल का अभिप्राय अज्ञानी से है।

दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति हैं, जो भोग तथा देह की नश्वरता का चि तन करते हुए आत्म-स्वभावो मुख बनते हैं। दैहिक कष्ट तथा रोग जनित वेदना को वे आत्म-बल से सहते जाते हैं और अपने भौतिक जीवन की इस अन्तिम अवस्था मे खाद्य, पेय आदि का परि-वर्जन कर, आमरण अनशन जो महान् आत्म-बल का द्योतक है, अपना कर शुद्ध चत य मे लीन होते हुए देह-त्याग करते हैं। जैन परिभाषा मे यह पण्डित मरण' कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रकीणक मे बाल मरण तथा पण्डित मरण का विवेचन है, जिसकी स्थिति प्राय आतुरावस्था मे बनती है। सम्भवत इसी पृष्ठ भूमि के आधार पर इसका नाम आतुर-प्रत्याख्यान रखा गया हो। इसमे प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्याख्यान से ही सदगति या शाश्वत शान्ति सधती है। चतु शरण की तरह इसके भी रचयिता श्री वीरभद्र कहे जाते हैं और उसी की तरह श्री भुवनतु ग द्वारा वृत्ति तथा श्री गुणरत्न द्वारा अवचूरि की रचना की गयी।

३ महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान)

नाम : अभिप्राय

असत् अशुभ या अकरणीय का प्रत्याख्यान या त्याग जीवन की यथार्थ सफलता का परिपोषक है। यह तथ्य ही वह आधार-शिला है, जिस पर धर्माचरण टिका है। प्रस्तुत कृति में इसी पृष्ठ भूमि पर दुष्कृत की निन्दा की गयी है। त्याग के महान् आदर्श की उपादेयता का इसमें विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इसी कारण इसकी संज्ञा महा प्रत्याख्यान की गयी।

विषय-वस्तु

पौद्गलिक भोगों का मोह या लोलुप भाव व्यक्ति को पवित्र तथा संयत जीवन नहीं अपनाने देता। पौद्गलिक भोगों से प्राणी कभी तृप्त नहीं हो सकता। उनसे संसार-भ्रमण उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। एतन्मूलक विषयों का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत कृति में माया का वर्जन, तितिक्षा एवं वैराग्य के हेतु, पंच महाव्रत आराधना आदि विषयों का विवेचन किया गया है। अन्ततः यही सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि प्रत्याख्यान ही सिद्धि प्राप्त करने का हेतु है। प्रस्तुत प्रकीर्णक में एक सौ बयालीस गाथाएं हैं।

४ भत्त-परिण्णा (भक्त-परिज्ञा)

नाम : आशय

भक्त भोजन वाची है और परिज्ञा का सामान्य अर्थ ज्ञान, विवेक या पहिचान है। स्थानांग सूत्र में परिज्ञा का एक विशेष अर्थ 'ज्ञानपूर्वक प्रत्याख्यान' किया गया है।

जैन धर्म में भक्त परिज्ञा अनशनपूर्वक मरण के भेदों में से एक है। आतुर प्रत्याख्यान के सन्दर्भ में जैसा कि विवेचन किया गया है, रुग्णावस्था में साधक आमरण अनशन स्वीकार कर पण्डित मरण प्राप्त करता है भक्त परिज्ञा की स्थिति उससे कुछ भिन्न प्रतीत होती है। वहां दैहिक अस्वस्थता की स्थिति का विशेष सम्बन्ध नहीं है।

सदसद् विवेकपूर्वक साधक आमरण अनशन द्वारा देह त्याग करता है। धर्म-संग्रह नामक जैन आचार-विषयक ग्रन्थ के तृतीय अधिकरण में इस सम्बन्ध में विशद वर्णन है। प्रस्तुत प्रकीर्णक में अन्यान्य विषयों के साथ-साथ भक्त परिज्ञा का विशेष रूप से वर्णन है। मुख्यतः उसी को आधार मान कर प्रस्तुत प्रकीर्णक का नामकरण किया गया है।

प्रकीर्णक का कलेवर एक सौ बहत्तर गाथामय है। इसमें भक्त-परिज्ञा के साथ साथ इंगिनी और पादोपगमन का भी विवेचन है, जो उसी (भक्त-परिज्ञा) की तरह विवेकपूर्वक अशन-त्याग द्वारा प्राप्त किये जाने वाले मरण-भेद हैं। इस कोटि के पण्डित-मरण के ये तीन भेद माने गये हैं।

कतिपय महत्वपूर्ण प्रसंग

प्रकीर्णक में दर्शन (श्रद्धा-तत्त्व-आस्था) को बहुत महत्वपूर्ण बताया गया है। कहा गया है कि जो दर्शन-भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें निर्वाण-लाभ नहीं हो सकता। साधकों के ऐसे अनेक उदाहरण उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने असह्य कष्टों तथा परिषहों को आत्म-बल के सहारे झेलते हुए अन्ततः सिद्धि लाभ किया।

मनोनिग्रह पर बहुत बल दिया गया है। कहा गया है कि साधना में स्थिर होने के लिए मन का निग्रह या नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। यहां मन को मर्कट की तरह चपल तथा क्षण भर भी शान्त नहीं रह सकने वाला बताया है। उसका विषय-वासना से परे होना दुष्कर है।

स्त्रियों की इस प्रकीर्णक में कड़े शब्दों में चर्चा की गयी है। उन्हें सर्पिणी से उपमित किया गया है। उन्हें शोक-सरित्, अविश्वास भूमि, पाप-गुहा और कपट-कुटीर जैसे हीन नामों से अभिहित किया गया है। इस प्रकीर्णक के रचनाकार श्री वीरभद्र माने जाते हैं। श्री गुणरत्न द्वारा अवचूरि की रचना की गयी।

५. तंदुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक)

नाम : अर्थ

तंदुल और वैचारिक, इन दो शब्दों का इसमें समावेश है। तंदुल का अर्थ चावल होता है और वैचारिक स्पष्ट है ही। प्रस्तुत प्रकीर्णक के इस नाम के सम्बन्ध में कल्पना है कि सौ वर्ष का वृद्ध पुरुष एक दिन में जितने तन्दुल खाता है, उनकी संख्या को उपलक्षित कर यह नामकरण हुआ है।[१]

कल्पना का आशय बहुत स्पष्ट तो नहीं है, पर, उसका भाव यह रहा हो कि सौ वर्ष के वृद्ध पुरुष द्वारा प्रतिदिन जितने चावल खाये जा सकते हैं, वे गणना योग्य होते हैं। क्योंकि वृद्धावस्था के कारण सहज ही उसकी भोजन मात्रा बहुत कम हो जाती है। अर्थात् एक ससीम संख्या क्रम इससे प्रतिध्वनित होता है।

प्रकीर्णक पांच सौ छयासी गाथाओं का कलेवर लिये हुए है। इसमें जीवों का गर्भ में आहार, स्वरूप, श्वासोच्छवास का परिमाण, शरीर में संधियों की स्थिति व स्वरूप, नाड़ियों का परिमाण, रोम-कूप, पित्त, रुधिर, शुक्र आदि का विवेचन है। ये तो मुख्य विषय हैं ही, साथ साथ गर्भ का समय, माता पिता के अंग, जीव की बाल-क्रीडा, मन्दा आदि दश दशाएं, धर्म के अध्यवसाय आदि और भी अनेक सम्बद्ध विषय वर्णित हैं।

नारी का हीन रेखा-चित्र

प्रस्तुत प्रकीर्णक में प्रसंगोपात्त नारी का बहुत घृणोत्पादक व भयानक वर्णन किया गया है। कहा गया है कि नारी सहस्रों अपराधों का घर है। वह कपट-पूर्ण प्रेम रूपी पर्वत से निकलने वाली नदी है। वह दुश्चरित्र का अधिष्ठान है। साधुओं के लिए वह शत्रुरूपा है। व्याघ्री की तरह वह क्रूरहृदया है। जिस प्रकार काले नाग का विश्वास नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वह अविश्वस्य है।

---

१ तन्दुलानां वर्षशतायुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्यानां संख्याविचारेणोपलक्षितं तन्दुल वैचारिकम्। अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग पृ० २१६८

उच्छृंखल घोड़े को जिस प्रकार दमित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वह दुर्दम है।

कुछ विचित्र व्युत्पत्तियाँ

नारी निंदा के प्रसंग में नारी अर्थ-द्योतक शब्दों की कुछ विचित्र व्युत्पत्तियां दी गयी हैं। जैसे नारी के पर्यायवाची 'प्रमदा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है पुरिसे मत्ते करंति त्ति पमयाओ।' अर्थात् पुरुषों को मत्त—कामोन्मत्त बना देती हैं, इसलिए वे प्रमदाएं कही जाती हैं।

महिला शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है 'णाणाविहेहिं कम्मेहिं सिप्पइयाएहिं पुरिसे मोहंति त्ति महिलाओ।' अनेक प्रकार के शिल्प आदि कर्मों द्वारा पुरुषों को मोहित करने के कारण वे महिलाएं कही जाती हैं।

प्राकृत में महिला के साथ महिलिया' प्रयोग भी नारी के अर्थ में है। स्वार्थिक 'क' जोड़कर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका विश्लेषण किया गया है 'महंत कलिं जणयंति त्ति महिलियाओ' मे महान् कलह उत्पन्न करती हैं, इसलिए उन्हें 'महिलियाओ' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

'रामा' की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'पुरिसे हावभाव-माइएहिं रमंति त्ति रामाओ।' हाव-भाव आदि द्वारा पुरुषों को रम्य प्रतीत होने के कारण वे रामा कही जाती हैं।

अंगना की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है 'पुरिसे अंगाणुराए करिंति त्ति अंगणाओ।' अर्थात् पुरुषों के अंगों में अनुराग उत्पन्न करने के कारण वे अंगनाएं कहलाती हैं।

नारी शब्द की व्युत्पत्ति में कहा गया है 'नारीसमा न नराणं अरीओ त्ति नारीओ।' नारियों के सदृश पुरुषों के लिए कोई अरि-शत्रु नहीं है इस हेतु वे नारी शब्द से संज्ञित हैं।

इन व्युत्पत्तियों से ग्रंथकार का यह सिद्ध करने का प्रयास स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि नारी केवल नामोपकरण है। नारी को एक घृणित और वीभत्स पदार्थ के रूप में चित्रित करने के पीछे

सम्भवत यही आशय रहा हो कि मानव काम से—कामिनी से इतना भयाक्रान्त हो जाए कि उसका और उसका आकर्षण ही मिट जाए। अस्तु, यह एक प्रकार तो है, पर, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उपादेयता सन्दिग्ध एव विवादास्पद है।

प्रस्तुत प्रकीर्णक पर एक वृत्ति की रचना हुई जिसके लेखक श्रीविजय विमल हैं।

६ सथारग (सस्तारक)

जो भूमि पर सस्तीर्ण या आस्तीर्ण किया जाए—बिछाया जाए, वह सस्तार या सस्तारक कहा जाता है। जैन परम्परा मे इसका एक पारिभाषिक अर्थ है। जो पर्यन्त क्रिया करने को उद्यत होते है आत्मोन्मुख होते हुए अनशन द्वारा देह त्याग करना चाहते हैं वे भूमि पर दर्भ आदि से सस्तार–सस्तारक अर्थात् बिछौना तैयार करते हैं, उस पर लेटते हैं।[1] उस सस्तारक पर देह त्याग करते हुए जीवन का वह साध्य साधने मे सफल होते है, जिसके लिए वे यावज्जीवन साधना-निरत तथा यत्नवान् रहे। उस बिछौने पर स्थित होते हुए वे ससार-सागर को तर जाते है अत सस्तारक का अर्थ ससार-सागर को तरा देने वाला, उससे पार लगाने वाला करें तो भी असगत नही लगता। प्रकीर्णक मे अन्तिम समय मे आत्मा-राधना निरत साधक द्वारा सयोजित इस प्रक्रिया का विवेचन है।

एक सौ तेईस गाथाओ मे यह प्रकीर्णक विभक्त है। इसमे सस्तारक की प्रशस्तता का बडे सुन्दर शब्दो मे वर्णन किया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार मणियो मे वैडूर्य मणि, सुरभिमय पदार्थों मे गोशीर्ष चन्दन तथा रत्नो मे हीरा उत्तम है, उसी प्रकार साधना क्रमो मे सस्तारक परम श्रेष्ठ है। और भी बडे उद्बोधक शब्दो मे कहा गया है कि तृणो का सस्तारक बिछा कर उस पर स्थित हुआ

---

१ सस्तीर्यते भूपीठ शयालुभिरिति सस्तार स एव सस्तारक। पर्यन्त-क्रिया कुर्वद्भिर्दर्भादिभिर्विरस्तरणे तत्क्रियाप्रतिपादन रूप प्रकीर्णक-ग्रन्थे।

—अभिधान राजेन्द्र, सप्तम भाग पृ० १९५

श्रमण मोक्ष-सुख की अनुभूति करता है। इस प्रकीर्णक में ऐसे अनेक मुनियों के कथानक दिये गये हैं, जिन्होंने संस्तारक पर आसीन होकर पण्डित-मरण प्राप्त किया। श्री गुणरत्न ने इस पर अवचूरि की रचना की।

७ गच्छायार (गच्छाचार)

गच्छ एक परम्परा या एक व्यवस्था में रहने वाले या चलने वाले समुदाय का सूचक है, जो आचार्य द्वारा अनुशासित होता है। जब अनेक व्यक्ति एक साथ सामुदायिक या सामूहिक जीवन जीते हैं, तो कुछ ऐसे नियम, परम्पराएँ व्यवस्थाएं मानकर चलना पड़ता है, जिससे सामूहिक जीवन समीचीनता, स्वस्थता तथा शान्ति से चलता जाए। श्रमण संघ के लिए भी यही बात है। एक संघ या गच्छ में रहने वाले साधु-साध्वियों को कुछ विशेष परम्पराओं तथा मर्यादाओं को लेकर चलना होता है, जिनका सम्बन्ध साध्वाचार, अनुशासन, पारस्परिक सहयोग सेवा और सौमनस्यपूर्ण व्यवहार से है। सामष्टिक रूप में यही सब सम्प्रदाय, गण या गच्छ का आचार कहा जाता है। आधुनिक भाषा में उसे संघीय आचार-संहिता के नाम से अभिहित किया जा सकता है। प्रस्तुत प्रकीर्णक में इन्हीं सब पहलुओं का वर्णन है।

प्रकीर्णक में कुल एक सौ सैंतीस गाथाएं हैं जिनमें कतिपय अनुष्टुभ् छन्द में रचित है तथा कतिपय आर्या छन्द में। महानिशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार आदि छेद-सूत्रों का वर्णन पहले किया गया है, जिनमें साधु-साध्वियों के आचार, उनके द्वारा ज्ञात अज्ञात रूप में सेवित दोष, तदर्थ प्रायश्चित्त विधान आदि से सम्बद्ध विषय वर्णित है। कहा जाता है, इन ग्रन्थों से यथापेक्ष सामग्री संचीर्ण कर एक गच्छ में रहने वाले साधु साध्वियों के हित की दृष्टि से इस प्रकीर्णक की रचना की गयी। इसमें गच्छ, गच्छ के साधु साध्वी आचार्य, उन सब के पारस्परिक व्यवहार नियमन आदि का विशद विवेचन है।

गच्छ के नायक या आचार्य के वर्णन प्रसंग मे एक स्थान पर उल्लेख है कि जो आचार्य स्वयं आचार-भ्रष्ट हैं, भ्रष्टाचारियो का नियन्त्रण नही करते अर्थात् आचार भ्रष्टता की उपेक्षा करते हैं स्वयं उन्मार्गगामी है, वे मार्ग और गच्छ का नाश करने वाले हैं। ज्यायान् एवं कनीयान् साधुओ के पारस्परिक वैयावृत्य, विनय, सेवा आदर, सद्भाव आदि का भी इस ग्रन्थ मे विवेचन किया गया है।

ब्रह्मचर्य पालन मे सदा जागरूक रहने की ओर श्रमणवृन्द को प्रेरित किया गया है। बताया गया है कि वय से वृद्ध होने पर भी श्रमण श्रमणियो के साथ वार्तालाप मे संलग्न नही होते। श्रमणिया का संसर्ग श्रमणो के लिए विष-तुल्य है।

विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया गया है कि हो सकता है, दृढचेता स्थविर के चित्त मे स्थिरता—दृढता हो, पर, जिस प्रकार घृत अग्नि के समीप रहने पर द्रवित हो जाता है, उसी प्रकार स्थविर के संसर्ग से साध्वी का चित्त द्रवित हो जाये, उसमे दुर्बलता उभर आये। वैसी स्थिति मे, जैसा कि आशकित है यदि स्थविर अपना धर्म खो बैठे तो वह ठीक वैसी दशा मे आपतित हो जाता है, जैसे कफ मे आलिप्त मक्षिका। अन्तत यहा तक कहा गया है कि श्रमण को बाला, वृद्धा, बहिन पुत्री और दोहित्री तक की निकटता नही होने देनी चाहिए।

व्याख्या-साहित्य

श्री आनन्दविमलसूरि के शिष्य श्री विजयविमल गणी ने गच्छाचार पर टीका की रचना की। टीकाकार ने एक प्रसंग मे उल्लेख किया है कि वराहमिहिर आचार्य भद्रबाहु के भाई थे। इस सम्बन्ध मे आचार्य भद्रबाहु के इतिवृत्त के सन्दर्भ मे चर्चा की जा चुकी है यह इतिहास सम्मत तथ्य नही है। इतिहास पर प्रामाणिकता गवेषणा तथा समीक्षा की दृष्टि से ध्यान न दिये जा सकने के कारण इस तरह के अप्रामाणिक उल्लेखो का प्रचलन रहा हो ऐसा सम्भावित लगता है। टीकाकार ने यह भी चर्चा की है कि वराहमिहिर ने चन्द्र-प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति आदि शास्त्रो का अध्ययन करके वाराही-संहिता नामक ग्रन्थ की रचना की।

८ गणि-विज्जा (गणि-विद्या)

आपातत प्रतीत होता है, इस प्रकीर्णक के नाम मे आया हुआ 'गणि' शब्द गण के अधिपति या आचार्य के अर्थ मे है, क्योकि प्राकृत मे सामान्यत गणि शब्द का प्रचलित अर्थ ऐसा ही है। संस्कृत मे भी 'गणिन्' शब्द इसी अर्थ मे है। समास मे न का लोप होकर केवल गणि रह जाता है। वास्तव मे इस प्रकीर्णक के नाम मे पूर्वार्द्ध मे जो गणि शब्द है, वह गण-नायक के अर्थ मे नही है। गणि शब्द की एक अन्य निष्पत्ति भी है। गण् धातु के इन् प्रत्यय लगाकर गणना के अर्थ मे 'गणि' शब्द बनाया जाता है। यहा उसी का अभिप्रेत है, क्योकि प्रस्तुत प्रकीर्णक मे गणना सम्बन्धी विषय वर्णित है। यह बयासी गाथाओ मे विभक्त है। इसमे तिथि, वार, करण मुहूर्त, शकुन लग्न नक्षत्र निमित्त आदि ज्योतिष-सम्बन्धी विषयो का विवेचन है। घण्टे के अर्थ मे यहा होरा शब्द का प्रयोग हुआ है।

९ देविंद-थय (देवेन्द्र-स्तव)

एक श्रावक चौबीस तीर्थकरो को वन्दन करता हुआ भगवान् महावीर की स्तवना करता है। श्रावक की गृहिणी उस समय अपने पति से इन्द्र आदि के विषय मे जिज्ञासा करती है। वह श्रावक कल्पोपपन्न तथा कल्पातीत देवताओ आदि का वर्णन करता है। यही सब इस प्रकीर्णक का वर्ण्य विषय है।

पिछले कई प्रकीर्णको की तरह इस प्रकीर्णक के रचनाकार भी श्री वीरभद्र कहे जाते है। इसमे तीन सौ सात गाथाए समाविष्ट हैं।

१० मरण-समाही (मरण-समाधि)

मरण जिसका कभी-न कभी सबको सामना करना पडता है जिससे सभी सदा भयाक्रान्त रहते हैं, जिसके स्मरण मात्र से देह मे एक सिहरन सी दौड जाती है, को परम सुखमय बनाने हेतु जैन दर्शन ने गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन किया है तथा उनके लिए एक प्रशस्त मार्ग दर्शन दिया है ताकि मृत्यु मानव के लिए भीति के स्थान पर महोत्सव बन जाए। समाधि-मरण उसी का उपक्रम है।

मानसिक स्थिरता, आत्मोन्मुखता, शुद्ध चिन्तनपूर्वक देहासक्ति-वर्जित मरण समाधि मरण है। वहाँ खान-पान आदि सब कुछ सहज भाव से परित्यक्त हो जाते हैं। साधक आत्म अनात्म के भेद विज्ञान की कोटि में पहुँचने लगता है। ऐसी अन्त-स्थिति उत्पन्न हो, जीवन में यथार्थगामिता व्याप्त हो जाए, एतदर्थ चिन्तनशील मनीषियों ने कुछ व्यवस्थित विधि क्रम दिये हैं, जो न केवल शास्त्रानुशीलन, अपितु उनके जीवन सत्य के साक्षात्कार से प्रसूत हैं। इस प्रकीर्णक में समाधि-मरण उसके भेद आदि का इसी परिप्रेक्ष्य मे तात्त्विक एवं विशद विवेचन है।

कलेवर विषय-वस्तु

प्रस्तुत प्रकीर्णक छः सौ तिरेसठ गाथाओं का शब्द-कलेवर लिये हुए है। परिमाण में दशों प्रकीर्णक ग्रन्थों में यह सब से वृहत् है। वर्ण्य विषय से सम्बद्ध भक्त-परिज्ञा आतुर प्रत्याख्यान महा प्रत्याख्यान, मरण विभक्ति, मरण-विशोधि, आराधना प्रभृति अनेक विध श्रुत-समुदय के आधार पर इस पकीर्णक का सजन हुआ है।

गुरु और शिष्य के संवाद के साथ इस ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। शिष्य को समाधि मरण के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। गुरु उसके समाधान में आराधना, आलोचना, सलेखना, उत्सर्ग अवकाश, संस्तारक, निसर्ग, पादपोपगमन आदि चौदह द्वारों के माध्यम से समाधि मरण का विस्तृत विश्लेषण करते हैं।

अनशन तप की व्याख्या, सलेखना विधि, पण्डित मरण के स्वरूप आदि का इस प्रकीर्णक में समावेश है, जो आत्म साधना के लिए केवल पठनीय ही नहीं, आन्तरिक दृष्टि से भी विचारणीय है। प्रासंगिक रूप में इसमें उन महापुरुषों के दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने परीषहों को समभाव से सहते हुए पादपोपगमन आदि तप द्वारा सिद्धि प्राप्त की। धर्म तत्त्वोपदेश के सन्दर्भ में और भी अनेक दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं। बारह भावनाओं के विवेचन के साथ यह प्रकीर्णक समाप्त होता है।

दश प्रकीर्णकों पर यह संक्षिप्त ऊहापोह है। इनके अतिरिक्त और भी कतिपय प्रकीर्णक हैं, जिनमें ऋषि-भाषित, तीर्थोद्‌गार-

परिज्ञा, आजीवकल्प, सिद्धप्राभृत, आराधना पताका, द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति, ज्योतिष करण्डक, अग विद्या तथा योनि प्राभृत, आदि उल्लेखनीय हैं।

उपसहार

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय द्वारा मुख्यतया निम्नाकित पतालीस आगम स्वीकृत हैं, जिनका पिछले पृष्ठो मे विश्लेषण किया गया है अग–११, उपाग–१२, छेद–६, मूल–४, नन्दी अनुयोग द्वार–२, प्रकीणक–१०। कुल–४५। अन्य प्रकीणक ग्रथो के मिलाने पर इनकी सख्या चौरासी तक हो गयी। किसी समय श्वेताम्बर मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के गच्छो की सख्या भी चौरासी थी। हो सकता है, इस सख्या ने भी वैसा करने की प्रेरणा दी हो।

श्वेताम्बर सम्प्रदायो के अन्तगत स्थानकवासी सम्प्रदाय तथा तेरापथ सम्प्रदाय द्वारा उपयु क्त पैंतालीस आगमो मे से बत्तीस आगम प्रामाणिक रूप में स्वीकार किये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं

अग—११

उपाग—१२

छेद–४—१–निशीथ, २–व्यवहार, ३–बृहत्कल्प,
४–दशाश्रुतस्कन्ध

मूल–४—१–दशवैकालिक, २–उत्तराध्ययन, ३–अनुयोग-द्वार,
४–नन्दी

आवश्यक–१। कुल ३२

आगमो पर व्याख्या-साहित्य

प्रयोजन

आर्य-भाषा-परिवार के अन्तगत छन्दस के विश्लेषण तथा जन उपाग साहित्य के विवेचन के सन्दर्भ मे वेदो के अग उपाग आदि की चर्चा की गयी है। वेदों को यथावत रूप मे समझने के लिए उनके छ अग, उपाग या विद्या स्थान पुराण, न्याय, मीमासा एव धर्मशास्त्र का प्रयोजन है। साथ-साथ ब्राह्मण ग्रन्थो तथा उनसे उद्भूत सूत्र ग्रन्थो[1] एव सायण आदि आचार्यो द्वारा रचित भाष्यो की भी उपयोगिता है। इस वाङ्मय का भली भाति अध्ययन किये बिना यह शक्य नही है कि वेदो का हार्द सही रूप मे आत्मसात् किया जा सके।

वेदो के साथ जो स्थिति उपयु क्त अगापाग एव भाष्य-साहित्य की है, वही पालि पिटको के साथ आचार्य बुद्धघोष, आचार्य बुद्धदत्त, आचार्य धम्मपाल आदि द्वारा रचित अट्ठकथाओ की है। पिटक साहित्य के तलस्पर्शी ज्ञान के लिए इन अट्ठकथाओ का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

प्राकृत जन आगमो के साथ उनके व्याख्या साहित्य की भी इसी प्रकार की स्थिति है। उसकी सहायता या आधार के बिना आगमो का हार्द यथावत् रूप मे गृहीत किया जाना कठिन है।

---

१ सूत्र-ग्रन्थ स्थूल रूप में चार भागों में विभक्त हैं १ श्रौत सूत्र, २-गृह्य सूत्र, ३ धर्मसूत्र तथा ४ शुल्व सूत्र।

जैन आगमो की अपनी विशेष पारिभाषिक शैली है। अनेक आगमो मे अत्यन्त सूक्ष्म तथा गम्भीर विषयो का निरूपण है, अत यह कम सम्भव है कि उन्हे सीधा सम्यक्तया समझा जा सके। इनके अतिरिक्त आगमो की दुरूहता बढ जाने का एक और कारण है। उनमे वाचना भेद से स्थान-स्थान पर पाठ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। तद्विषयक परम्पराए आज प्राप्त नही हैं, अत आगम-गत विषयो की समुचित सगति बिठाते हुए उनका अभिप्राय यथावत् पकड पाना सरल नहीं है। व्याख्याकारो ने इस सन्दर्भ मे स्थान-स्थान पर स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया है जिससे आगम-अध्येताओ को उनके अध्ययन अनुशीलन और उनका अभिप्राय स्वायत्त करने में सुविधा हो।

व्याख्याओ की विधाए

जैन आचार्यों का इस ओर सतत प्रयत्न रहा कि आगम गत तत्त्व पाठको द्वारा सही रूप मे आत्मसात् किया जाता रहे। यही कारण है कि आगमो के व्याख्या परक साहित्य के सर्जन मे वे सदाकृत प्रयत्न रहे। फलत निर्युक्ति भाष्य चूर्णि, टीका वृत्ति दीपिका व्याख्या, विवेचन, विवरण, अवचूरि, पजिका बालावबोध वचनिका तथा टब्बा आदि विविध प्रकार का विपुल व्याख्या साहित्य प्राप्त है। बहुत सा प्रकाश मे आया है तथा अन्य बहुत-सा प्रकाशन की प्रतीक्षा में भण्डारों में मजूषाओ तथा पुटठो मे आज भी प्रतिबद्ध है।

व्याख्या-साहित्य मे निर्युक्तियो तथा भाष्यों की रचना प्राकृत भाषा मे हुई। चूर्णिया यद्यपि प्राकृत-सस्कृत का मिश्रित रूप लिये हुए है, पर, वहा मुख्यतया प्राकृत का प्रयोग है। कुछ टीकाए भी प्राकृत निबद्ध या प्राकृत-सस्कृत-मिश्रित हैं। अधिकाश टीकाए सस्कृत मे हैं। इस प्रकार आगमो के अतिरिक्त उनसे सम्बद्ध प्राकृत-साहित्य की ये चार विधाए और हैं। आगमो सहित उसके पाच प्रकार होते हैं जिसे पचागी साहित्य कहा जाता है।

प्राकृत के विकास के विभिन्न स्तरो, रूपो आदि का अवबोध, भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से प्राकृत का सूक्ष्म परिशीलन आगमगत जन

दशन एव आचारशास्त्र के विविध पक्षो के प्रामाणिक तथा शोध-पूर्ण अध्ययन आदि अनेक दृष्टियो से इस पचागी साहित्य के व्यापक और गम्भीर परिशीलन की वास्तव मे बहुत उपयोगिता है ।

निज्जुत्ति (निर्युक्ति)

व्याख्याकार आचार्यो व विद्वानो के अनुसार सूत्रो मे जो निर्युक्त है, निश्चित किया हुआ है, वह अथ जिसमे निबद्ध हो-समीचीनतया सन्निवेशित हो—यथावत् रूप मे निर्दिष्ट हो, उसे निर्युक्ति कहा जाता है। निर्युक्तिकार इस निश्चय को लेकर चलते हैं कि वे सूत्रो का सही तथ्य यथावत् रूप मे प्रस्तुत करें, जिससे पाठक सूत्रगत विषय सही रूप मे हृद्गत कर सके। पर जिस सक्षिप्त और सकेतमय शैली मे निर्युक्तिया लिखी गयी हैं, उससे यह कम सम्भव लगता है कि उन्हे भी बिना व्याख्या के सहजतया समझा जा सके। यद्यपि विवेच्य विषयो को समझाने के हेतु अनेक उदाहरणो, दृष्टान्तो तथा कथानको का उनमे प्रयोग हुआ है, पर, उनका सकेत जैसा कर दिया गया है, स्पष्ट और विशद वर्णन नही मिलता। ऐसी मान्यता है कि निर्युक्तियो की रचना का आधार गुरुपरम्परा प्राप्त पूर्व मूलक वाङ्मय रहा है।

श्रमणवृन्द आगमिक विषयो को सहजतया मुखाग्र रख सकें, निर्युक्तियो की रचना के पीछे सम्भवत यह भी एक हेतु रहा हो। ये आर्याछन्द मे गाथाओ मे हैं, इसलिए इन्हे कण्ठस्थ रखने मे अपेक्षाकृत अधिक सुगमता रहती है। कथाए, दृष्टान्त आदि का भी सक्षेप मे उल्लेख या सकेत किया हुआ है। उससे वे मूल रूप मे उपदेष्टा श्रमणो के ध्यान मे आ जाते हैं जिनसे वे उन्हे विस्तार से व्याख्यात कर सकते हैं।

ऐतिहासिकता

व्याख्या साहित्य मे निर्युक्तिया सर्वाधिक प्राचीन है। पिण्ड-निर्युक्ति तथा ओघ-निर्युक्ति की गणना आगमो के रूप मे की गयी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पाचवी ई॰ शती मे वलभी मे हुई आगम वाचना, जिसमे अन्तत आगमो का सकलन एव निर्धारण

हुआ, उससे पूव ही नियु क्तियो की रचना आरम्भ हो गयी थी। प्रमुख नैयायिक द्वादशार नय चक्र के रचयिता आचाय मल्लवादी ने अपनी रचना में नियु क्ति-गाथा उद्धृत की है, जिससे मल्लवादी से पूव नियुंक्तियो का रचा जाना प्रमाणित होता है। मल्लवादी का समय विक्रम का पचम शतक माना जाता है।

नियुंक्तिया रचनाकार

१ आचाराग, २ सूत्रकृताग, ३ सूयप्रज्ञप्ति, ४ व्यवहार, ५ कल्प, ६ दशाश्रुतस्कन्ध, ७ उत्तराध्ययन ८ आवश्यक, ९ दशवैकालिक, १० ऋषिभाषित, इन दश सूत्रो पर नियुंक्तियो की रचना की गयी है। सूयप्रज्ञप्ति तथा ऋषिभाषित की नियुंक्तिया अप्राप्य हैं। नियु क्तिकार के रूप मे आचाय भद्रबाहु का नाम प्रसिद्ध है। पर, श्रुतकेवली (अतिम चतुदश पूवधर) आचाय भद्रबाहु, जिन्होन छेद-सूत्रो की रचना की और नियु क्तिकार आचाय भद्रबाहु एक नही हैं। बहुत बडी कठिनाई यह आती है कि अनेक आगमो पर रचित नियु क्ति तथा भाष्य की गाथाए स्थान-स्थान पर एक-दूसरे से इतनी मिल गयी हैं कि उन्हे पृथक् कर पाना दु शक्य है। चूर्णिकार भी वैसा नही कर पाये।

नियु क्तिया मे प्रसगोपात्त जैनो के परम्परा-प्राप्त आचार-विचार, जन तत्व-ज्ञान के अनेक विषय, अनेक पौराणिक परम्पराए, ऐतिहासिक घटनाएँ (अशत ऐतिहासिक, अशत पौराणिक) इस प्रकार की विमिश्रित मान्यताए वर्णित हुई हैं। जैन सस्कृति जीवन-व्यवहार तथा चिन्तन क्रम के अध्ययन की दृष्टि से नियु क्तियो का महत्व है। नियु क्तियो मे विशेषत अर्द्ध-मागधी प्राकृत का व्यवहार हुआ है। प्राकृत की भाषा शास्त्रीय गवेषणा के सन्दर्भ मे भी ये विशेषत अध्येतव्य हैं।

भास (भाष्य)

आगमा के तात्पय को और अधिक स्पष्ट करने के हेतु भाष्यों की रचना हुई। इनकी रचना-शैली भी लगभग वैसी है, जसी नियुंक्तियो की। ये प्राकृत-गाथाओ मे लिखे गये हैं। नियु क्तियो की तरह

इनमे भी सक्षिप्त विवेचन-पद्धति का अपनाया गया है। जिस प्रकार नियुक्तियो की रचना मे अर्द्ध-मागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है, इनमे भी प्रधानत वैसा ही है। कही कही अर्द्ध मागधी के साथ साथ मागधी और शौरसेनी प्राकृत के भी कुछ रूप दृष्टिगत होते हैं।

रचना रचयिता

मुख्यतया जिन सूत्रो पर भाष्यो की रचना हुई, वे इस प्रकार हैं—१ निशीथ, २ व्यवहार ३ बृहत्कल्प, ४ पच कल्प, ५ जीतकल्प, ६ उत्तराध्ययन, ७ आवश्यक, ८ दशवैकालिक ९ पिण्ड-निर्युक्ति तथा १० ओघ नियुक्ति। निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प के भाष्य अनेक दृष्टियो से अत्यधिक महत्त्व लिये हुए हैं। इनके रचयिता श्री सघदास गणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं। कहा जाता है, ये याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य हरिभद्रसूरि के समसामयिक थे।

आवश्यक सूत्र पर लघुभाष्य, महाभाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य की रचनाए की गयी। अनेक विषयो का विशद समावेश होने के कारण विशेषावश्यक भाष्य का जैन साहित्य मे अत्यन्त महत्त्व है। इसके रचयिता श्री जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण हैं। जीतकल्प तथा उसके स्वोपज्ञ भाष्य के कर्ता भी श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ही हैं।

भाष्य साहित्य मे प्राचीन श्रमण जीवन और सघ से सम्बद्ध अनेक महत्वपूर्ण सूचनाए प्राप्त होती हैं। निग्रन्थो के प्राचीन आचार, व्यवहार, विधि-क्रम, रीति-नीति, प्रायश्चित्तपूर्वक शुद्धि, इत्यादि विषयो के समीक्षात्मक अध्ययन एव अनुसन्धान के सन्दर्भ मे निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प भाष्य का अध्ययन नितान्त उपयोगी है। इनमे विविध प्रसगो पर इस प्रकार के उपयोगी सकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे निग्रन्थो की आचार शृखला को जोडने वाली अनेक कडिया प्रकाश में आती हैं।

चुण्णि (चूर्णि)

उद्भव लक्षण

आगमो पर नियुक्ति तथा भाष्य के रूप में प्राकृत गाथाओ मे व्याख्यापरक ग्रन्थो की रचना हुई। उनसे आगमो का आशय विस्तार

तथा विशदता के साथ अधिगत किया जा सके, वैसा शक्य नहीं था, क्योंकि दोनों रचनाएं पद्यात्मक थीं। वस्तुतः व्याख्या जितनी स्पष्ट, प्राधगम्य तथा हृद्य गद्य में हो सकती है, पद्य में वैसी हो सके यह सम्भव नहीं हो पाता। फिर दोनों (नियुक्ति तथा भाष्य) में संक्षिप्तता का आश्रयण था, अतः प्रवचनकार, प्रवक्ता या व्याख्याता के लिए जैसा कि उल्लेख किया गया है, वह (शैली) लाभकर थी, पर, स्पष्ट और विशद रूप में आगमों का हार्द अधिगत करने के इच्छुक अध्येताओं के लिए उनका बहुत अधिक उपयोग नहीं था। अतएव गद्य के रूप में आगमों की व्याख्या रचे जाने का एक क्रम पहले से ही रहा है, जो चूर्णियों के रूप में प्राप्त है।

अभिधान-राजेन्द्रकार ने चूर्णि का लक्षण एवं विश्लेषण करते हुए लिखा है 'प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति तथा विभाषा[1] के रूप में जो अर्थ बहुल हो, हेय-उपादेय अर्थ का प्रतिपादन करने की महत्ता या विशेषता में जो संयुक्त हो, जिसकी रचना हेतु निपात तथा उपसर्ग के समन्वय से गम्भीरता लिए हुए हो जो अव्यवच्छिन्न—श्लोकवत् विराम-रहित हो जो गम—नगम नयानुप्राणित हो, उसे चौर्णपद—चूर्णि कहा जाता है।'[2]

चूर्णियों की भाषा

चूर्णिकार ने भाषा के सम्बन्ध में नया प्रयोग किया है। प्राकृत जन दृष्टि से आप्त वाक् है, अतः उसे तो उन्होंने लिया ही है, पर संस्कृत को भी उन्होंने ग्रहण किया है। दर्शन और तत्त्वज्ञान आदि गम्भीर एवं सूक्ष्म विषयों का विद्वद्भोग्य तथा व्युत्पन्न शैली में व्याख्यात करने में संस्कृत की अपनी अप्रतिम विशेषता है। उसका शब्दकोश वैज्ञानिक दृष्टि से विशाल है तथा उसका व्याकरण शब्दों के नव सर्जन की उर्वरता लिये हुए है। उसकी अपनी कुछ विशिष्ट

---

१ व्याकरण के अनुसार शाब्दिक रचना की स्थितियां।

२ अत्थबहुलं महत्थं हेउनिवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं, गमणयसुद्धं तु चुन्नपयं॥

—अभिधान राजेन्द्र तृतीय भाग, पृ० ११८५

शब्दावली है, जिसके द्वारा सक्षेप मे विस्तृत और गहन अर्थ व्याख्यात किया जा सकता है। उसकी विवेचन सरणि मे प्रभावापन्नता और गम्भीरता है। सूक्ष्म और पारिभाषिक (Technical) विश्लेषण की दृष्टि से उसकी अपनी असामान्य क्षमता है। चूर्णिकार द्वारा भाषात्मक माध्यम के रूप मे प्राकृत के साथ साथ सस्कृत सयोजन के पीछे सम्भवत इसी प्रकार का दृष्टिकोण रहा हो, अर्थात् सस्कृत की इन विशेषताओ से लाभान्वित क्यो न हुआ जाए ?

चूर्णियो मे किया गया प्राकत-सस्कृत का मिश्रित प्रयोग 'मणि प्रवाल-न्याय' से उपमित किया गया है। मणियो और मू गो को एक साथ मिला दिया जाये, तो भी वे पृथक् पृथक स्पष्ट दीखते रहते हैं। यही स्थिति यहा दोनो भाषाओ की है।

प्राकृत की प्रधानता

चूर्णिया मे सस्कृत और प्राकृत का सम्मिलित प्रयोग तो हुआ, फिर भी उनमे प्रधानता प्राकृत की रही। चूर्णियो मे यथा प्रसग अनेक प्राकत-कथाए दी गयी हैं, जो धार्मिक, सामाजिक किंवा लौकिक जीवन के विभिन्न पक्षो से सम्बद्ध हैं। चूर्णिकार को जो शब्द विशेष व्याख्येय या विश्लेष्य लगे हैं, उनकी व्युत्पत्ति भी प्राय प्राकत मे ही प्रस्तुत की गयी है।

वण्य विषय के समथन तथा परिपुष्टता के हेतु स्थान स्थान पर प्राकृत व सस्कत के विभिन्न विषयो से सम्बद्ध पद्य उद्ध त किये गये हैं। प्राकत भाषा की क्षमता, अभिव्यजना-शक्ति, प्रवा‌‌ञ्जलता, लोक जनीनता आदि के साथ भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से चूर्णियो के अध्ययन की वास्तव मे अत्यधिक उपयोगिता है।

चूर्णियाँ रचनाकार

आचाराग, सूत्रकृताग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, पचकल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, जीतकल्प, जीवाभिगम, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी तथा अनुयोग-द्वार पर चूर्णियो की रचना हुई है।

चूर्णियों के रूप में जैन साहित्य को ही नहीं, प्रत्युत भारतीय वाङ्मय को अनुपम देन देने वाले मनीषी श्री जिनदास गणी महत्तर थे। वे वाणिज्य कुलोत्पन्न थे। धर्म-सम्प्रदाय की दृष्टि से वे कोटिक गण के अन्तर्गत वज्र शाखा से सम्बद्ध थे। इतिहासज्ञों के अनुसार उनका समय षष्ठ शती ईसवी के लगभग माना जाता है।

जैसलमेर के भण्डार में दशवैकालिक चूर्णि की अेक प्राचीन प्रति मिली है जिसके रचयिता स्थविर अगस्त्यसिंह हैं। उनका समय विक्रम की तृतीय शती माना जाता है। उससे प्रकट होता है कि श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में समायोजित वाचना से भी लगभग दो तीन शती पूर्व ही वह रची जा चुकी थी। आगम-महोदधि स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी द्वारा उसका प्रकाशन किया गया है। श्री जिनदास गणी महत्तर द्वारा रचित दशवैकालिक चूर्णि के नाम से जो कृति विश्रुत है उसे आचार्य हरिभद्रसूरि ने वृद्ध विवरण के नाम से अभिहित किया है।

महत्त्वपूर्ण चूर्णियाँ

भारतीय लोक-जीवन के अध्ययन की दृष्टि से सभी चूर्णियों में यत्र तत्र बहुत सामग्री विकीर्ण है, पर, निशीथ की विशेष चूर्णि तथा आवश्यक चूर्णि का उनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैन इतिहास, पुरातत्त्व तत्कालीन समाज आदि पर प्रकाश डालने वाली विशाल सामग्री भरी है। लोगों का खान पान, वेश-भूषा, आभूषण, सामाजिक, धार्मिक एवं लौकिक रीतियाँ, प्रथाएं, समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मापदण्ड, समय-समय पर पर्व दिनों के उपलक्ष्य में आयोजित होने वाले मेले समारोह, जनता द्वारा मनाये जाने वाले त्यौहार, व्यवसायिक स्थिति, व्यापार मार्ग, अेक समुदाय के साथ व्यापारार्थ दूर दूर समुद्र-पार तक जाने वाले बड़े बड़े व्यवसायी (सार्थवाह) उपज दुर्भिक्ष, दस्यु, तस्कर आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों का विविध प्रसंगों के बीच इन चूर्णियों में विवेचन हुआ है।

स्पष्टतः पता चलता है कि जैन आचार्य तथा सन्त जन-जन को धर्म प्रतिबोध देने के निमित्त कितने समुद्यत रहे हैं। यही कारण

है कि उनका लोक-जीवन के साथ अत्यन्त निकटतापूर्ण सम्पर्क रहा है। उस काल के लोक जीवन का एक सजीव चित्र उपस्थित कर पाना उनके लिए सहजतया सम्भव हो सका है। जन सम्पर्क के साथ साथ वे कितने व्यवहार-निपुण थे, प्रस्तुत सामग्री से यह भी प्रकट होता है। जैन सन्तों को अपने दर्शन तथा धर्म का गहन अध्ययन तो था ही अध्ययन की अन्यान्य विधाओं में भी उनकी गहरी पहुंच थी। वास्तव में उनका अध्ययन बड़ा व्यापक तथा सार्वजनीन था। लोक-जीवन तथा लोक साहित्य के गवेषणापूर्ण अध्ययन की दृष्टि से भी चूर्णियों का अप्रतिम महत्त्व है। आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त तत्सम्बद्ध साहित्य के इतर ग्रन्थों पर भी चूर्णियां लिखे जाने का क्रम रहा। उदाहरणार्थ कर्म ग्रन्थ श्रावक प्रतिक्रमण जैसे ग्रन्थों पर भी चूर्णियां रची गयीं।

टीकाएं

अभिप्रेत

आगम ही जैन संस्कृति, धर्म दर्शन आचार विचार, संक्षेप में समग्र जैन जीवन के मूल आधार हैं, अतः उनके आशय को स्पष्ट, स्पष्टतर और सुबोध्य बनाने की ओर जैन आचार्यों तथा मनीषियों का प्रारम्भ से ही प्रयत्न रहा है। परन्तु जहां एक ओर निर्युक्तियां भाष्यों और चूर्णियों का सर्जन हुआ, दूसरी ओर टीकाओं की रचना का क्रम भी गतिशील रहा। निर्युक्तियों व भाष्यों की रचना प्राकृत गाथाओं में हुई तथा चूर्णियां प्राकृत-संस्कृत गद्य में लिखी गयीं वहां टीकाएं प्रायः संस्कृत में रचित हुई। शब्द सर्जन की उर्वरता व्यौत्पत्तिक विश्लेषण की विशदता तथा अभिव्यंजना की असाधारण क्षमता आदि संस्कृत की कुछ असामान्य विशेषताएं हैं जिन्होंने जैन तथा बौद्ध लेखकों को विशेष रूप से आकृष्ट किया। फलतः उत्तरवर्ती काल में जैन तथा बौद्ध सिद्धान्त जब विद्वद्गम्य, प्रांजल तथा प्रौढ़ स्तर एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अभिव्यक्त व प्रतिष्ठित किये जाने लगे, तब उनका भाषात्मक परिवेश अधिकांशतः संस्कृत निबद्ध रहा। जैन वाङ्मय में आचार्य सिद्धसेन के सन्मति-तर्क प्रकरण के अतिरिक्त प्रायः प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत में रचे गये। यही सब हेतु थे कि

जन दार्शनिक-काल के पूर्व से ही विद्वान् आचार्यों ने आगमों की टीकाओं की भाषा के रूप मे संस्कृत को स्वीकार किया। अर्हद्-वाणी की संवाहिका होने के कारण प्राकृत के प्रति जो श्रद्धा थी उसका इतना प्रभाव तो टीका साहित्य मे अवश्य पाया जाता है कि कहीं कहीं कथाएं मूल प्राकृत में ही उद्धृत की गयी हैं। कुछ टीकाएँ प्राकृत निबद्ध भी हैं, पर बहुत कम।

टीकाएं पुरावर्ती परम्परा

नियुक्तिया, भाष्य चूर्णियां एवं टीकाएँ व्याख्या साहित्य के क्रमिक विकास के रूप मे नही हैं, बल्कि सामान्यत ऐसा कहा जा सकता है कि इनका सृजन स्वतन्त्र और निरपेक्ष रूप से अपना दृष्टि-कोण लिये चलता रहा है। वालभी वाचना के पूर्व टीकाओं के रचे जाने का क्रम चालू था। दशवैकालिक चूर्णि के लेखक स्थविर अगस्त्यसिंह जिनका समय विक्रम के तृतीय शतक के आसपास था, अपनी रचना मे कई स्थानो पर प्राचीन टीकाओं के सम्बन्ध मे इंगित किया है।

हिमवत् थेरावली मे उल्लेख

हिमवत् थेरावली मे किये गये उल्लेख के अनुसार आर्य मधुमित्र के अन्तेवासी तथा तत्त्वार्थ महाभाष्य के रचयिता आर्य गन्ध-हस्ती ने आर्य स्कन्दिल के अनुरोध पर द्वादशांग पर विवरण लिखा, जो आज अप्राप्य है। मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार आचारांग का विवरण सम्भवत विक्रम के दो शतक बाद लिखा गया। विवरण वस्तुत संस्कृत टीका का ही एक रूप है। इस प्रकार टीकाओं की रचना का क्रम एक प्रकार से बहुत पहले ही चालू हो चुका था।

प्रमुख टीकाकार

आचार्य हरिभद्रसूरि

जैन जगत् के महान् विद्वान्, अध्यात्म योगी आचार्य हरिभद्र सूरि का आगम-टीकाकारों मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका समय

आठवीं ई० शती माना जाता है। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोग-द्वार तथा प्रज्ञापना पर टीकाओं की रचना की। टीकाओं में उनकी विद्वत्ता तथा गहन अध्ययन का स्पष्ट दर्शन होता है। टीकाओं में कथा भाग को उन्होंने प्राकृत में ही यथावत् उपस्थित किया। इस परम्परा का कतिपय उत्तरवर्ती टीकाकारों ने भी अनुसरण किया जिनमें वादिवेताल आचार्य शान्तिसूरि, आचार्य मलयगिरि आदि मुख्य हैं।

शीलांकाचार्य

श्री शीलांकाचार्य ने द्वादशांग वाङ्मय के अत्यन्त महत्वपूर्ण *आगम आचारांग तथा सूत्रकृतांग पर टीकाओं की रचना की।* इनमें जैन-तत्व-ज्ञान तथा आचार क्रम से सम्बद्ध अनेक महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुए हैं। श्री शीलांकाचार्य का समय लगभग नवम ईसवी शती माना जाता है।

शान्त्याचार्य एवं नेमिचन्द्राचार्य

ईसा की ग्यारहवीं शती में वादिवेताल आचार्य शान्तिसूरि तथा आचार्य नेमिचन्द्रसूरि प्रमुख टीकाकार हुए। श्री शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन पर 'पाइय' या 'शिष्यहिता' संज्ञक टीका की रचना की। वह उत्तराध्ययन-बृहद् वृत्ति के नाम से भी प्रसिद्ध है। श्री नेमिचन्द्रसूरि ने इसी टीका को मुख्य आधार बनाकर एक और टीका की रचना की जिसे उन्होंने 'सुख-बोधा' संज्ञा दी।

आचार्य शान्तिसूरि ने जहां प्राकृत-कथाओं का उद्धृत किया है, वहां ऐसा वृद्ध सम्प्रदाय है, इस प्रकार वृद्धवाद है, अन्य इस प्रकार कहते हैं, इत्यादि महत्वपूर्ण सूचनाएं की है जो अनुसंधित्सुओं के लिए बड़ी उपयोगी हैं। इनसे अनुमेय है कि प्राचीनकाल से इन कथाओं की परम्परा चली आ रही थी। कथा साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से इन कथाओं का महत्व है। 'पाइय' तथा 'सुख-बोधा' संज्ञक टीकाओं में कुछ कथाएं तो इतनी विस्तृत हो गयी हैं कि उनकी पृथक् स्वतन्त्र पुस्तक हो सकती है। ब्रह्मदत्त तथा अगडदत्त की कथाएं इसी प्रकार की हैं।

आचार्य अभयदेव प्रभृति उत्तरवर्ती टीकाकार

बारहवीं-तेरहवीं ई० शती में अनेक टीकाकार हुए, जिन्होंने टीकाओं के रूप में महत्त्वपूर्ण व्याख्या साहित्य का सृजन किया। आचार्य अभयदेवसूरि ने स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्न व्याकरण तथा विपाक श्रुत, इन नौ अंग ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाओं की रचना की, जिनका जैन साहित्य में बड़ा समादृत स्थान है। नौ अंगों पर टीकाएं रचने के कारण ये "नवांगी टीकाकार" के नाम से विश्रुत हैं। इनका समय बारहवीं ई० शताब्दी है।

बारहवीं-तेरहवीं शती के टीकाकारों में श्री द्रोणाचार्य, मलधारी हेमचन्द्र, श्री मलयगिरि एवं श्री क्षेमकीर्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सत्रहवीं शती के अन्तिम भाग में हुए श्री पुण्यसागर उपाध्याय, श्री शान्तिचन्द्र भी विश्रुत टीकाकार थे।

विशेषता : महत्त्व

टीकाओं ने आगम गत निगूढ़ तत्त्वों की अभिव्यक्ति और विश्लेषण का तो महत्त्वपूर्ण कार्य किया ही, एक बहुत बड़ी साहित्यिक निधि भी प्रस्तुत की, जिसका असाधारण महत्त्व है। विद्वान् टीकाकारों ने मानव जीवन के विभिन्न अंगों और पहलुओं का जो विवेचन-विश्लेषण किया वह मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक आदि अनेक पहलुओं का मार्मिक संस्पर्श लिए हुए है।

यह विशाल वाङ्मय उत्तरवर्ती साहित्य के सृजन में निःसंदेह बड़ा उपजीव्य एवं प्रेरक रहा। फलतः जैन वाङ्मय का स्रोत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य लोक भाषाओं का माध्यम लिये उत्तरोत्तर पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित होता गया। इतना ही नहीं जैनेतर साहित्य की भी अनेक विधायें इससे प्रभावित तथा अनुप्राणित हुई।